

परीक्षामुखसूत्रप्रबचन

[त्रयोदश भाग]

प्रवक्ता :

श्री १०५ क्षुलक मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' जी महाराज

ज्ञानादिक गुणोंके मूलोच्छेदनको मोक्ष माननेकी शङ्खा—विशेषवादी दार्शनिक शङ्खा कर रहा है कि मोक्षका स्वरूप ज्ञान दर्शन शक्ति आनन्द इन अनन्त चतुष्टयोंका लाभ होना नहीं हो सकता है। मोक्षका स्वरूप तो बुद्धि, सुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन ६ गुणोंके उच्छेदरूप है अर्थात् जहाँ आत्मामें ये ६ गुण नहीं रहे, ये नष्ट हो जायें ऐसा निर्गुण हो जाय आत्मा उसका नाम मोक्ष है। इन गुणोंका उच्छेद हो जाया करता है इसका प्रमाण है। इसका अनुमान प्रयोग कर लीजिये। आत्माके नवों विशेष गुणोंका संतान बिल्कुल नष्ट हो जाता है क्योंकि संतान होनेसे जो जो संतान है वह संतान कभी एकदम सब समाप्त हो सकता है। जैसे प्रदीप संतान। एक दीपकमें जितने तेलके बूँद जन रहे हैं क्रमशः दीपक वे उतने हैं, एक एक बूँद एक एक दीपक बनता जा रहा है और ऐसा १५ मिनट तक दीपक जले तो उसमें हजार दीपक बन गये। ये दीपक न्यारे न्यारे हैं क्योंकि उनके कारण-भूत बूँद भी न्यारे न्यारे हैं। तो उन त्यारे न्यारे दीपकोंमें जो यह ऋम हो गया है कि एक दीपक है श्रीर उससे फिर जो व्यवहार चल उठा है इसका कारण है संतान। उन नाना दीपकोंमें जो एक संतान बन गया उस संतानसे यह व्यक्तरूप हो गया है। तब देखो कभी ये संतान मिट जाते हैं ना ? मिट जाते हैं ! दीपक बुझ जाता है, पिता पुत्रकी संतान चलती है, चलती रहती है, कभी यह संतान नष्ट हो भी जाती है ना कही ? हो भी जाती है। इसी प्रकार इस आत्माके ज्ञानादिक गुणोंकी संतान चल रही है तो वह संतान भी नष्ट हो जाती है। तो जहाँ ज्ञानादिक गुणोंकी संतान नष्ट हुई है उसका नाम मोक्ष है। शङ्खाकारका भाव यह है कि आत्मा तो एक चित् स्वरूपमात्र है। उसका विकास नहीं, परिणामन नहीं, व्यक्तरूप नहीं, वह तो एक परिणामी तत्त्व है, आधारभूत है। अब उस आत्मामें जब ज्ञान सुख दुःख इच्छा आदिक बातें लग बैठी तो आत्मामें ये बातें लग गयी श्रीर ये चल रही हैं तो इन गुणोंका जो

यह चलना है आत्मामें वस इसका नाम संसार है । जिस समय इसकी यह संतान समाप्त हो जायगी तो ये गुण खत्म हो जायेंगे और तब आत्माका मोक्ष कहलाता है ।

काल्पनिक भी कुछ फर्क विदित होनेपर भिन्न भिन्न सत् माननेका सिद्धान्त —इस विशेषवादमें यह मूल तंत्र बताया है अपने सिद्धान्तका कि जहाँ लक्षणसे या अन्य भी किसी नियाहृष्टे जरा भी फर्क समझमें आया, ऐद ज्ञानमें आया तो वे न्यारी—न्यारी चीजें हैं उनको सत्त्व जुदा जुदा है । जैसे विशेषवादकी भक्तिमें आजकल वैज्ञानिक भी अपनी बुद्धिमें आये हुए अणुवोंमें जो कि स्कंथर ही है उनमें जो शक्तियाँ हैं उन शक्तियोंको जुदा जुदा तत्त्व माने जा रहे हैं और स्वतन्त्र माने जा रहे हैं और प्रयोग भी ऐसा किया करते हैं कि उसकी शक्ति वहाँसे हटा दे कहीं अन्यत्र लगा दे । शक्तिमय ही वह सूक्ष्म स्कंथर है इस ओर उनका ध्यान नहीं । इसका मत-लब है कि शक्तिको ही वे एक पदार्थ मानने लगे । इनर्जी कोई किसी आधारमें रहनी है, इस मन्त्रव्यसे हठकर इनर्जी स्वयं एक स्वतन्त्र तत्त्व है, ऐसा आजकलके वैज्ञानिक तक भी मानने लगे हैं, ऐसे ही विशेषवादके सिद्धान्तमें यह तंत्र अनन्त लगाया कि जहाँ समझमें कुछ भी भेद आया कि समझना वे सब जुदी जुदी चीजें हैं । तो आत्मा में ज्ञान है, शक्ति है, सुख है, दुःख है, इच्छा है, ये अनेक बातें समझमें आ रही हैं और भिन्न समझमें आ रही हैं । आत्मा तो कोई एक है । जितने ये सुख हैं ये आत्मा नहीं हैं, जितनी ये इच्छायें हैं ये आत्मा नहीं हैं । इच्छाका स्वरूप न्यारा है आत्माका स्वरूप न्यारा है, ज्ञानका स्वरूप न्यारा है । ज्ञानगुण है, आत्मा द्रव्य है । तो द्रव्यकी सत्ता न्यारी है गुणकी सत्ता न्यारी है ।

विशेषवादमें गुणोच्छेदको मोक्ष माननेका प्रयोग — यह विशेषवाद सिद्धान्तकी बात चल रही है जिसको कि यह प्रकृति है कि किसी भी पदार्थमें स्वरूपका, लक्षणका, शक्तिका, गुणका, किंगका भेद करके उन सबको जुड़े जुड़े सत् मान लें, हैं वे सब पदार्थ, ऐसा मानलें । ऐसा इनका तत्र है, युक्ति है, उसी युक्तिपर यह कह रहे हैं कि मोक्ष इसका नाम नहीं है कि आत्मामें ज्ञान अनन्त हो गया, शक्ति अनन्त हो गई, आनन्द अनन्त हो गया, इसके मायने मोक्ष नहीं है किन्तु आत्मामें से ज्ञान उड़ गया, खत्म हो गया, शक्ति नष्ट हो गयी, आनन्द समाप्त हो गया, खाली अब आत्मद्रव्य रह गया, गुण सब खत्म हो गए इसका नाम मोक्ष है । ऐसा विशेषवादी मोक्षके स्वरूपकी बात कह रहे हैं और इस सिद्धान्तके रखनेमें वे अनुपान प्रयोग कर रहे हैं कि ज्ञानादिक गुणोंकी संतानका कहीं भूलतः उच्छेद हो सकता है, क्योंकि संतान होनेसे । लोकमें जो भी संतान हैं, जो एक परम्परा है जिससे वह संतान कहलाता है, जो भी संतान है वह कभी नष्ट हो जाता है । जैसे दीपककी संतान है तो कभी यह नष्ट हो जाती है ।

गुणोच्छेद सिद्ध करनेके लिये दिये गये हेतुको निर्दोष बतलानेका

उपऋम—बुद्धादिक संतानोच्छेदके अनुमान प्रयोगमें दिये गये हेतुके दोषको दूर करनेके लिए ब्रतला रहे हैं कि हमारा हेतु असिद्ध नहीं है । हेतु असिद्ध उसे कहते हैं कि जिस पक्षमें हेतु रहता है, उस पक्षमें हेतु व पाया जाय । जैसे इस पर्वतमें अग्नि है घुवाँ होनेसे, यह अनुमान बनाया । अगर धूम पर्वतमें नहीं पाया जा रहा है किर भी कोई हेतु बना रहा है तो यह असिद्ध हेतु कहलाता है । इस तरह ये ज्ञानादिककी संतान असिद्ध नहीं हैं । ज्ञानादिकमें संतान पाया जा रहा है । विरुद्ध हेतु भी यह नहीं है । विरुद्ध हेतु उसे कहते हैं कि जिसका अन्य कोई इटान्ट ही न मिले । जैसे पर्वतमें अग्नि है, घुवाँ होनेसे । इसको हम बता सकते हैं कि हमारा हेतु यह अनुकूल है, विरुद्ध नहीं है । देखो रसोईधरमें भी घुवाँ दिखत है और अग्नि वहाँ पाई आती है । तो यह हमारा संतान हेतु भी अविरुद्ध है । जैसे दिया जल रहा है ना, तो १५ मिनटमें तेलकी हजारों बूँदें जलती हैं तो १५ मिनटमें वे दीपक हजारों हैं, एक दीपक नहीं है, पर उन हजारों दीपकमें अन्तर नहीं आ पाया, वे निरन्तर जलती रहीं—यही तो संतान है । तो यह संतान इष्ट हो जाती है ना । दीपकके आगे कूड़ा अड़ गया तो दीपक बुझ गया । तो संतान हेतु विरुद्ध भी नहीं है । संतानत्व हेतु अनेकान्तिक भी नहीं है । अनेकान्तिक वह कहलाता है जो हेतु अग्ने अनिष्ट साध्यको भी सिद्ध करदे और इष्ट साध्यको भी सिद्ध करदे । जैसे कोई यह अनुमान बनाये कि अग्नि ठंडी होती है क्योंकि पदार्थ होनेसे । जो भी पदार्थ होते हैं वे ठंडे होते हैं—जैसे पानी । ठीक है, पानीमें बात आ गई पर विद्युत आदिक गर्म चीजोंमें तो यह बात नहीं घटित होती । यह प्रत्यक्षवाधित भी है, तो भी उभयवृत्तिपना देखें । जो इष्ट अनिष्ट दोनोंको सिद्ध करे उसे अनेकान्तिक कहते हैं । तो संतानत्व हेतु अनेकान्तिक दोषसे दूषित भी नहीं है क्योंकि विपक्ष परमाणु आदिकमें संतानत्व हेतुकी प्रबुत्ति है नहीं, संतानत्व हेतु कालात्यापदिष्ट भी नहीं है । जो हेतु सिद्ध किया जा रहा है उससे विरुद्ध बात यदि प्रत्यक्षसे ही सिद्ध हो तो वह हेतु वाधित कहलाता है । हमारा संतानत्व हेतु वाधित नहीं होता, न उसमें प्रत्यक्षसे बाधा है न परोक्षसे । यों संतानपना होनेसे यह सिद्ध है कि आत्मामें जो ज्ञान सुख दुःख आदिक गुण पाये जा रहे हैं इनका कही मूलतः नाश हो जाता है । और गुणोंका मूलतः नाश हो जानेका नाम ही मोक्ष है ऐसा वैसेहिक दर्शनवादी कह रहे हैं ।

गुणोच्छेदको मोक्ष माननेकी असङ्गतताका प्रतिपादन अब इसके समाधानमें कहते हैं कि यह कहना युक्त नहीं है कि आत्मामें जो ६ विशेष गुण पाये जाते हैं उनका अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, क्योंकि संतोष होनेसे । अरे, पहिले यह ही सिद्ध नहीं कर सकते कि उसमें संतान होती है और ये भिन्न चीजें हैं और इनका फिर समाधान सम्बन्ध होता है तब ये जुड़ते हैं यह बात भी सिद्ध नहीं कर सकते । जब हेतु ही सिद्ध न रहा तो हेतु आश्रयासिद्ध हो गया । जैसे पर्वतमें घुवाँ नहीं है तो यह कैसे सिद्ध करोगे कि इस पर्वतमें अग्नि है !

विशेषवादमें पदार्थकी संख्या विशेष सिद्धान्तमें इस तरहकी व्यवस्था मानी है कि पदार्थ ६ तरहोंके होते हैं— द्रव्य, गुण, सामान्य, विकेष, समवाय और अवश्य। जब कि स्याद्वादमें ६ पदार्थ इस तरह माने हैं—जीव, पुद्गल, भर्म, अवर्म आकाश और काल। वे छहोंके छहों पदार्थ जो स्याद्वाद दर्शनमें माने गए हैं इन सबको वे एक द्रव्यमें ही मान लेते हैं, किन्तु उसमें कुछ माने भी गए कुछ नहीं भी माने गए। जैसे भर्म द्रव्य, अवर्म द्रव्य तो विशेषवाद ही क्या, किसी भी दर्शनने नहीं माना कि है कोई लोकमें इथर सूक्ष्मपतस्त्र जो जीव और पुद्गलकी गतिमें सहायक होता है। व जीव और पुद्गल जलते हुए ठहरें तो जीव पुद्गलके ठहरनेमें सहायक होता है अवर्मद्रव्य। ऐसे भर्म अवर्म द्रव्य जैन शासनके प्रतिरिक्त कहीं नहीं माने गए। कल्पना तो इनकी अब भी की जा रही है। वैज्ञानिक लोग आकाशमें तत्त्व की खोज कर रहे हैं जो कि सबके गमनमें प्राथम्य रख पड़ता है।

विशेषिक सिद्धान्तके संक्षिप्त विवरणमें द्रव्य और गुणका सत्त्व— यहीं विशेषवाद सिद्धान्तका घोड़ा विवेचन किया जा रहा है। वेखिये— ६ जातिके पदार्थ स्याद्वाददर्शनमें माने गए हैं वे सब पदार्थ इनके क्षिणित द्रव्यमें शामिल नहीं हैं, कुछ हैं। तो सब पदार्थ आवें या न आवें, या कुछ पुनरुत्थ हों, उन सबको एक द्रव्यमें ही शामिल कर लिया गया विशेषवादमें। अब द्रव्यमें तूण भी तो पाए जा रहे हैं। जैसे ये पुद्गल पदार्थ हैं— इनमें रूप, रस, यन्त्र, स्वर्ण पाए जा रहे हैं कि नहीं? लोहसमें रूप है जो कि कालनामें अच्छ हो रहा है। गुण है, इसके अन्दर रूप आदिक हैं तो विशेषवादमें रूप आदिक गुण जुदे सत् माने गए हैं जब कि स्याद्वाद दर्शनमें पुद्गलकी शक्ति पुद्गलमें ही तन्मय है। उनको छोड़कर अस्तु और कुछ चीज नहीं है, ऐसा माना गया है और विशेषवादमें गुण स्वतन्त्र सत् है, वे भौतिक पदार्थ स्वतन्त्र सत् हैं यों विशेषका, भेदका विस्तार किया गया है। फिर प्रश्न होता है कि जब वे स्वतन्त्र स्वतन्त्र सत् हैं गुण और गुणी, द्रव्य और गुण जब ये अपना स्वतन्त्र स्वरूप रख रहे हैं तो स्वतन्त्र ही कहलाए। फिर हमारे आत्मामें सम्बन्ध केसे, जुड़ा? जैसे दो मुरुख ज्यारे हैं तो ज्यारे ही हैं। उनमें वह किसे कहा जायगा कि इसका वह है। इसमें यह है। तो इसके लिए एक पदार्थ माना गया है समवाय। समवाय एक ऐसा विचित्र तत्त्व माना है जो सारी दुनियामें एक है और उस समवायके कारण आत्मामें ज्ञानका समवाय हो जाता आदि। समवाय मायने घनिष्ठ सम्बन्ध, मिलाप। आत्मामें ज्ञानका मिलाप, उस समवाय सम्बन्धके कारण है। परमाणुमें रूप रस आदिकका मिलाप समवाय सम्बन्धसे है।

विशेषवादमें क्रियाका स्वतन्त्र सत्त्व—विशेषवादमें कर्म (किया) भी स्वतन्त्र सत् है। जैसे यह गुण अलग सत् माना गया है। इसी प्रकार क्रिया भी अलग सत् है। अंगुलीने सीधा टेढ़ा परिणमन जो किया तो वह सीधा टेढ़ा

अलग चीज है प्रीर औंगुली अलग चीज है ऐसा माना गया है। आत्मामें जो भी किंवा हो रही है, परिणतेयां होती है, जो भी बेड़ ये होती है वे अलग स्वतन्त्र सत् हैं। आत्मा अलग स्वतन्त्र सत् है। फिर इनको सम्बन्धके लुड़ा। जबकि स्थाद्वाद दर्शनमें माना था है कि पदार्थकी परिणते उप कानमें उप पदार्थ तन्मा है, फिर बादमें वह परिणति है ही नहीं। चूंकि वह स्वयं सत् न या इत्यलिए अभाव माननेमें विरोध नहीं। स्वतन्त्र सत् होता तो प्रत्येक परिणति सदा रहनी चाहिए थी।

विमेविहमिद्वान्तमें सामान्य, विरोध प्रीर अभाव—मुख्य, अब यहाँ और कुछ ऐसा भी तो न हो प्राप्त है कि दोनों सामान्य प्रीर विरोध भी कोई नहीं होती है। जैसे मुड़ा मुड़ा नहीं है। परा इसे प्राप्तने मुड़ा नहीं भी तो कुछ है ना। जैसे कहा कि एक मनुष्यको बुला लावो तो चाहे वह बूढ़े ना लावे, चाहे जबानका लावे बच्चे को लावे, विद्वानको लावे भूखं तो लावे बीनको लावे अथवा घनीको लावे, चाहे जिसे लावे करोकि उसे मनुष्य सामान्यके लिए कहा था। और, कोई यदि यह कहे कि पंडितजीको बुना लावो तो पंडितजी ही सिर्फ़ प्राप्ते और कोई न प्राप्ते तब तो बात सही मानी जायगी। इससे मान्य होता है कि पदार्थमें सामान्य भी कोई चीज होती और विशेष भी कोई चीज होती। जब कुछ समझमें आया, कुछ जुदाने सा दीखा तो विशेषवादने उसे स्वतन्त्र सत् मान लिया। सामान्य भी स्वतन्त्र सत् है और विशेष भी स्वतन्त्र सत् है। ही स्वतन्त्र मत् तो है पर वह पदार्थमें कैसे आ गया? एक और विलक्षण अभाव नारक पदार्थ माना है। जब कि स्थाद्वादमें पदार्थ वह माना गया है जिसका सत्त्व हो, परिणयन हो, पर्यंतेका हो, लेकिन विरोधादर्शमें कुछ समझ में आना चाहिए अलगसे बात कि सत् मान लिया गया। विशेषवादमें अभाव भी एक पदार्थ है। किसीने कहा कि उस कमरेते घड़ी उठा लावो। और घड़ी बहाँ थीं नहीं, घड़ीका बहाँ अभाव था। तो जो अभाव है वह भी एक पदार्थ है करोकि ज्ञानमें आधा ना, अभाव समझमें आया ना? जो समझमें आया वह पदार्थ है। यों ६ जातिके पदार्थ माने गए हैं।

गुणोच्छेदको कलानपर विचार—इय प्रसङ्गमें यह दिखाया गया है कि गुण जितने होते हैं वे सब वर्ण हुए करते हैं किसी पदार्थके गुण नहीं होते। उस पदार्थमें गुणका सम्बन्ध होता है तब वह गुणी कहलाता है। अत्मा ज्ञानी नहीं है, आत्मा अलग चीज है, ज्ञान अलग चीज है। जब ज्ञान गुणका समवाय सम्बन्ध आत्मा में होता है तो यह ज्ञानी कहलाता है। कोई उन विशेषवादियोंसे पूछ पकता है कि जब वह गुण अन्य है आत्मा अन्य है, ज्ञान अन्य है अत्मा अन्य है तो यह ज्ञान आत्मामें ही क्यों विशेष पृथक् अदिक्षणी भी तक पदार्थोंमें क्यों वही सम्बन्ध कर लेता? ऐसे ऐसे प्रश्नोंके उत्तर देनेको कोशिश को गई है किन्तु अन्तमें उत्तर देनेका अकास सफल नहीं हो पाता। आप ही सोच लो कि ज्ञान तो अलग बस्तु है और

आत्मा आलग वस्तु है तो पहिले तो यह ही ज्ञानमें न आयेगा कि खाली ज्ञान आत्मा को छोड़कर किस प्रकारका होता होगा, जिसका कोई साधन नहीं जिसमें प्रवगाहवे चाला गुण नहीं, वह क्या स्वत्व होता होगा वह सर्वमें न आयगा। और यहां यह आत्मा जिसमें ज्ञान नहीं, कोई गुण नहीं, किर भी कुछ द्रव्य है, ऐसा निर्मुण द्रव्य क्या होता होगा ? यह भी ज्ञानमें नहीं आ सकता। ही स्वरूपमेद है, ज्ञानका स्वरूप एक गुणके रूपमें है, आत्माका स्वरूप पूर्ण पदार्थरूपमें है, पर ही वे दोनों एक। ज्ञान बिना आत्मा क्या ? आत्मा बिना ज्ञान क्या ? लेकिन लक्षणमेद होनेसे कुछ समझ-भेद होनेसे ये अलग अलग मान लिए गए हैं। ऐसे वैशेषिक सिद्धान्तका एक सामान्य विवरण किया है।

गुणोच्छेदकी सिद्धिमें दिये गये संतानत्व हेतुकी असिद्धता—गुणोच्छेद को मोक्ष माननेपर कहा जा रहा है कि तुम संतान ही सिद्ध नहीं कर सकते। और, संतान सिद्ध करनेकी बात जाने दो। प्रथम तो तुमने ज्ञानको अस्वसंविदित माना है, सो तुम ज्ञानका स्वरूप भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि विशेषवादमें ज्ञानका स्वरूप अस्वसन्निहित माना गया है अर्थात् जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है वह प्रपने आपको नहीं ज्ञानता, किर उस ज्ञानको ज्ञाननेके लिए दूसरा ज्ञान चाहिए। जैसे हम आप भी कभी कभी भ्रष्टस करते हैं कब, जबकि ज्ञानमें संदेह होता है। कोई चीज जाना, जैसे दूर पड़ा हुआ अन्धका कोई टुकड़ा ऐसा समझमें आया कि यह तो चाँदीका टुकड़ा मालूम होता है, किर उसमें संशय हो गया कि यह पता नहीं कि चाँदी है या अन्धक ? तो अब वह ज्ञान निर्बल पड़ गया, क्योंकि उस ज्ञानमें संशय आ गया। तो मेरा यह ज्ञान सही है क्या ? यों उस ज्ञानकी ठिकाई जानने वाला एक दूसरा ज्ञान बनाना पड़ा ना ? तो विशेषवादमें ज्ञानको अज्ञानरूप माना है अर्थात् ज्ञान स्वयं प्रपने आपकी समझ नहीं कर सकता। तो जब एक ज्ञानका स्वरूप बननेके लिए दूसरे ज्ञानकी जरूरत पड़ी तो उसके लिए तीसरे ज्ञानकी जरूरत पड़ी, यों तो अनन्द-स्था दोष हो जायगा। उससे फिर ज्ञान हीका स्वत्व सिद्ध नहीं हो सकता। फिर आप संतान किसकी बनाना चाहते ?

गुणोच्छेद और संतानत्व दोनोंकी असिद्धि—इस प्रसङ्गमें मूल बात इतनी कही जा रही थी कि अनन्द ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द इनकी प्राप्ति हो जानेका नाम मोक्ष है। जो आत्मामें गुण हैं उनका पूरा विकास हो जानेका नाम मोक्ष है किन्तु एक वैशेषिक सिद्धान्तमें आत्मा और गुणको भिन्न भिन्न माना है। और सिद्धान्त है उनका कि ये सब गुण जब आत्मामें नल्ट हो जायेंगे तब आत्माका मोक्ष कहलाता है। तो आत्माके ज्ञानादिक गुणोंके उच्छेदमें ही मोक्ष मानने वाले वैशेषिक यहां आपना पक्ष रख रहे थे कि बुद्धि, मुख, आदिक गुणोंका उच्छेद हो जानेका नाम मोक्ष है, न कि ज्ञानकी प्राप्तिका नाम मोक्ष

२४४]

परीक्षामुख्यप्रबन्ध

है। उक्ते किंवदन्ति का रहे हैं कि न तो ज्ञानकी सत्त्वता लिद्ध होती है न स्वरूप, फिर उच्छेदकी बात कहाँ लगाइ जाय? आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानके अतिरिक्त आत्मा अन्य कुछ चीज़ नहीं है। ज्ञानात् वा भी आवरण है, रागद्वेष विषयकवाय कर्म आदिका आवरण पड़ा है जिसके कारण ज्ञान प्रकट नहीं हो जाता। जब अंतरङ्ग और बहिरङ्ग समस्त प्रकारके आवरण दूर हो जाते हैं तो ज्ञानका परिपूर्ण विकास होता है, वे गुण असीम हैं। उनके विकाससे त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। देखो कहाँ तो मोक्ष हा, ऐसा समृद्धिशाली स्वरूप कि अनन्त ज्ञान है, अनन्त ज्ञान द है, बहुत ही पावनस्वरूप है और कहाँ मोक्षका यह स्वरूप शङ्काकारके द्वारा कहा जा रहा है कि ऐसे, मोक्ष तो उसका नाम है जहाँ न ज्ञान रहता न आनन्द रहता न सुख-दुःख रहते न धर्म प्रश्नमें रहते। कुछ भी जहाँ गुण नहीं रहते। आत्मा कोरा रह जाय, इसका नाम मोक्ष है। तो मोक्षके उस पूर्व निरूपित स्वरूपके विलाप यह स्वरूप रखा जा रहा है शङ्काकारके द्वारा कि आत्मा के समस्त गुण समाप्त हो जायें तो इसका नाम मोक्ष है। इस गुणोच्छेदके मंतव्यका यहाँ निराकरण किया जा रहा है।

द्रव्यसे प्रथक् गुणोंके सत्त्वका अभाव--वस्तुतत्त्व ऐसा है कि कोई भी पदार्थ हो, है तो वह अनन्त गुणात्मक प्रथात् वस्तुके अनन्त गुण ही सब वस्तु कहलाता है अथवा पदार्थमें गुण नहीं है, दर्शन तो पदार्थ ही है। उस पदार्थका स्वरूप समझनेके लिए उसमें जो उसके अनुरूप परिज्ञान किया यथा कि यह गुण है, गुण तो भेद है, पर्याय अभेद है। गुण सदा रहता है पर्याय सदा नहीं रहती। यह तो अनन्तर है पर जैसे पर्याय भेद है वैसे ही गुण भी भेद है। वस्तु तो एक स्वरूप अभेदात्मक है प्रत्येक पदार्थकी यह बात निरखलो! गुण-गुण जीव आकाश आदिक समस्त सत् पदार्थोंकी यही बात है कि वे हैं और जैसे हैं वैसे ही हैं, इनको समझनेके लिए गुण भेद किये जाते हैं। जैसे आत्मा तो एक स्वरूप जैसा है वैना ही है। आत्मा है और वह जो है सो है और प्रतिसम ३ जित रहा परिणाम रहा सो परिणाम रहा है। अब हम उसे समझायें कैसे? दूधरोंके द्वारा हम समझें कैसे? ऐसा समझनेके लिये व्यवहार से उस अखण्ड अभेद पदार्थमें गुणके भेद बनाये हैं और पर्यायके भेद बनाये हैं। इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ जुदी चीज़ नहीं है, गुण जुदी चीज़ नहीं है। अखण्ड पदार्थोंके समझनेके लिए जो उनकी ज्ञानादि गुणोंके सत्त्वका अभाव जैसे विद्ध है आत्माका अनुभव है, परिज्ञान है वे एक आत्मा इतने शब्द कहने हीसे जूरे आत्मपदार्थको लक्ष्य में ले लेते हैं कि आत्मा शब्दसे यह कहा गया है। और जिन्हें उसका परिचय ही नहीं है अथवा कुछ परिज्ञान भी है तो जो बारबार उसे भूलते हैं अथवा उसपर उपरोक्त जमता नहीं है। तो ऐसे लोगोंके लिए उस आत्माके सम्बन्धमें आत्माकी ज्ञानियोंकी

आत्मासे पृथक् ज्ञानादि गुणोंके सत्त्वका अभाव जैसे विद्ध है आत्माका अनुभव है, परिज्ञान है वे एक आत्मा इतने शब्द कहने हीसे जूरे आत्मपदार्थको लक्ष्य में ले लेते हैं कि आत्मा शब्दसे यह कहा गया है। और जिन्हें उसका परिचय ही नहीं है अथवा कुछ परिज्ञान भी है तो जो बारबार उसे भूलते हैं अथवा उसपर उपरोक्त जमता नहीं है। तो ऐसे लोगोंके लिए उस आत्माके सम्बन्धमें आत्माकी ज्ञानियोंकी

चर्चा की जाती है। देखो ! जिसमें ज्ञान है वह आत्मा है, जिसमें दर्शन है चारित्र है शक्ति है अग्नन्द है वह आत्मा है। पर आत्मा एक अलग सत् हो और उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आग्नन्द आदिक गुण कुछ अलग सत् हों। जैसे मटकेमें चने भर दिए तो चनों में अलग सत्त्व है मटकाका अलग सत्त्व है, उन चनोंको मटकेसे अलग रख दिया। इसी प्रकार आत्मा कोई खाली चीज़ हो और उसमें ज्ञानादिक गुण भरे जाते हों ऐसी वस्तुशब्दस्था नहीं है। आत्मा ही ज्ञानादिक अग्नन्द गुणरूप है। अब ऐसे आत्मामें जहाँ कि वस्तुतः अभेद है और समझनेके लिए व्यवहारमें भेद किया जाता है तो कुछ स्वरूप भेद बनाया गया तभी तो भेद बन।। देखो ! ज्ञान आग्नन्द आदिक एक एक गुण है, वे घर्म हैं, उन गुणोंसे एक नहीं है, वे गुण स्वयं और गुण वाले नहीं हैं वे गुण इकाई हैं तब स्वरूपभेदसे लक्षणभेदसे गुणभेदसे अभेदरूप आत्मामें भी भेद किया गया है कि आत्मा समक्ष गुणोंका पिण्ड है और उसके अग्नन्द गुण रहते हैं, पर इतना व्यवहारके लिए उपकारी कथन होनेसे ऐसा नहीं माना जाना चाहिए कि ज्ञानादिक गुण पूरे स्वतन्त्र सत् हैं और आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र सत् है। लेकिन विशेषवादमें यही माना जा रहा है। इसे कहते हैं भेदवाद !

भेदवाद और अभेदवादका सिद्धान्त—देखिये ! विशेषवादका सिद्धान्त है भेदवाद। और इसके विपरीत होता है अभेदवाद ! ये दोनों बातें एक दूसरेसे विलक्षण चर्टी चल रही हैं। जैसे नित्यवाद और क्षणिकवाद ये दोनों एक दूसरेके उल्टे हैं। नित्यवादमें प्रत्येक पदार्थको सर्वथा नित्य बताया जाता है, श्रीपरिणामी सदा रहने वाला। तो क्षणिकवादमें ऐसा क्षणिक बताया जाता कि द्रव्यसे तो निरंश जो एक एक अणु है सो द्रव्य है। उस अणुमें भी सक्तिके क्षण कर दिए गए। उनमें जो एक एक आवाच है सो सत् है। उनमें भी परिणामियोंके क्षण कर दिए गए। जो एक एक परिणाम है सो पूरी चीज़ है। क्षणिकवादने क्षण-क्षण करनेकी, दुकड़े-दुकड़े करने की ठानी है तो नित्यवादने एक कूटस्थ श्रीपरिणामी माननेकी ठानी है। तो यों ही समझिये कि यद्वैतवाद जब कि सारे विश्वको एक मानकर चल रहा। क्या है ये समस्त पदार्थ ? एक प्रश्न है श्रयवा एक श्रान्नादृत है। ज्यादह किसीने हैरान किया कि कहाँ ये पदार्थ श्रद्धैत हैं ? पदार्थ देखो नाना हो ज्ञानमें देखो नाना झलकें उत्तर नहोती हैं तो के कहते हैं कि रहो सब वित्र विचित्र किन्तु उनका जो एक प्रतिभास है वित्राद्वैत इस श्रद्धैतको नहीं छोड़ता, सबको एक मानता, यह श्रद्धैतवादकी हठ है। तो विशेषवादकी यह हठ है कि किसी भी पदार्थमें कुछ भी बात समझमें आये तो उसको स्वतन्त्र सत् मानकर उसके दुःङ्ग-दुकड़ी कर देते। इन दोनों बादोंके समन्वयका प्रतीक है लोकप्रसिद्ध गणेशकी मूर्ति। जैसे लोक मानते हैं कि गणेशके सूँड लगी है और वे मूँहपर बैठत हैं, बाहन मूँह है। ऊपर सूँड अभेदरूपसे फिट है। वह किसी समयमें एक दाशनिक प्रतीक होगा। जो इन दो तत्त्वोंपर दृष्टि डालता है कि

देखो पदार्थ इस रूप है जैसे कि गणेशकी ऊपरी श्रवस्थामें यह सूंड जो मनुष्यसे विचरीत है या बाहरकी चीज है वह भी यहाँ ऐसी फिट अभेदलग हो गई कि वहाँ कुछ भेद नहीं नजर आता । यह है एक अभेदवादका प्रतीक और बाहन घूँह यह भेदशाद का प्रतीक है । जैसे घूँह कहाँ बजाजकी दुकानमें पहुँच जाय और कोई कपड़ा पाजाप तो उस कपड़ेके बह इतने छोटे-छोटे शंश कर डालता है कि जितने छोटे कैचीसे भी टुकड़े करना सम्भव नहीं है ।

विशेषवादमें एक ही पदार्थमें भेद करनेकी प्रक्रिति—विशेषवादकी प्रक्रिति है भेद करना । एक ही पदार्थ जो सबं प्रकारसे समृद्ध है, परिपूर्ण है अभेद है, उसमें ही गुण समझमें आया, तो लो अबो गुणकी जत्ता अलग है । गुण इस आत्मामें फिर किये जाते हैं समवायसम्बन्धसे । यह आत्मा कुछ अगर परिणति कर रहा, समझमें आ रहा, राग किया द्वेष किया परिज्ञान किया, चेष्टाकी या किन्हीं पदार्थमें हलन चलन हो तो यह हलन चलन यह क्रिया यह चेष्टा ये कर्म ये स्वतंत्र सत हैं, इतना तो पदार्थ में फिट कराया जाता है । और की तो बात जाने दो, सामान्य और विशेषको स्वतंत्र सत् मान लिया गया । अब बतलावो १०० मनुष्य बैठे हैं और इन सबमें मनुष्यस्व वाया जो रहा है तो यह मनुष्यस्व सामान्य एक तत्त्व बन गया । यह भी एक पदार्थ है लेकिन सामान्य या स्वरूप तो है, पदार्थ नहीं । पदार्थमें तो अर्थ क्रिया होती है, काम भी बनता है । दूध चाहिये ? तो गायके पास पहुँचते हैं तब दूध मिलता है, तो वह गाय विशेष है । कहीं गाय सामान्य से तो दूध नहीं मिल सकता वह गाय सामान्य तो एक विशेषनिष्ठ कल्पना है ? सदृशताका जो भाव है उसका नाम सामान्य है । कहीं काली पीली सफेद आदिक गाय जो एक पदार्थ है वह पदार्थ न हो तो दूध कहाँ से मिल सकेगा । विशेष वादियोंने तो अपना तंत्र ही यह बनाया है कि भेद करना । देखिये भेद करना भी एक हितका उपाय बन सकता है और अभेद मानना भी हितका उपाय बन सकता है । मगर सबमें उचित और अनुचित पनेकी बात होती ही है ।

टृष्णिभेदसे ही भेद करनेका श्रीचित्य— अ॒जु सूत्र नयका और काम कथा हैसिवाय भेद करनेके भेद करते जायें । पर्यायिका भेद किया, मोटी पर्याय यानी उसमें सन्तोष नहीं हुआ । सूक्ष्म पर्याय माना, उसमें भी सन्तोष नहीं हुआ तो एक समय की पर्यायिको बुद्धिमें लिया जानमें तो सब सामर्थ्य है । एक रागभाव आधा भिन्नट तक बराबर किया जा रहा है । अत्त ही हम आपकी समझमें इस रागका प्रभाव आधा भिन्नट किया जानेपर आया लेकिं ३० सेकेण्डमें प्रतिसेकेण्डमें ही तो राग परिणामन चल रहा और एक सेकेण्डमें जितने समय है, प्रतिसमय राग परिणामन चल रहा, पर अनुभाव राग जहाँग्रनुभव किया जा सके वह एक समयके राग परिणामनकी बात नहीं है, वहाँ असंस्थात समय तक उपयोग जब उस रागमें होता है तब बनता है, लेकिन समय समयपर परिणामन न हो मो अन्तर्मुँहुंतमें भी परिणामनका रूप नहीं बन सकता

तो अनुसूत्रनय एक समयके परिणामन पर दृष्टि डालना चाहता है जो कि शुद्धऋगु सूत्र है। यह शुद्ध अनुसूत्रनय शुद्ध पर्यायकी एक परिणामिसे व्यान दिलानेके लिए नहीं कहा जा रहा है शुद्ध हो ग्रनुद्ध हो, कोई परिणामन हो, केवल एक समय के परिणामनपर दृष्टि दिलाये उसे शुद्ध अनुसूत्र कहते हैं। अब इसमें जो जाना गया वह निरंश जाना गया। देखिये एक निरंश होता है अभेद निरंश सबका एक अखण्ड रूप और एक निरंश होता है भेद करते करते जो ऐसा अनित्त भेद जिसका भेद नहीं¹ किया जा सकता है वह भी निरंश है और निरंशत्त्वका परिज्ञान भी इस मोहभावको दूर करनेमें समर्थ हो सकता है। तो भेद करना अभेद करना सब ठीक है, किन्तु एक विशेष प्रभाएँसे अविरुद्ध हो करके उनका भेद किया जाना चाहिये।

ज्ञानादिक गुणोंको आत्मासे पृथक सत् माननेपर गुण गुणीकी अव्यस्था—प्रकरणमें यह चल रहा है कि मोक्षका स्वरूप तो सिद्धान्तमें यह बताया गया कि अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द इनका विकास हो जाय, इस स्वरूपका लाभ हो जाय इसे मोक्ष कहते हैं। और सब स्वरूप ये सब गुण आत्माके अभिन्न गुण हैं। इस ही रूप आत्मा है इनका विकास हुआ यथार्थ आत्माका विकास हुआ, पर इस रूपमें न मानकर वेदोंविक विद्वान्तवादी तो अपना पक्ष यह रख रहे हैं कि आत्माके गुणोंका नाश होनेका नाम मोक्ष है।ज्ञान, सुख, शुख, इच्छा आदिक जो भी गुण हैं, समस्त गुणोंका अभिन्न हो जाय, ये गुण आत्मासे निकल जायें, आत्मा कोरा रह जाय उसका नाम मोक्ष है। उसीके उत्तरमें यह कहा गया है कि देखो अग्र आत्मा न्यारा है और ज्ञानादिक न्यारे हैं तो पहिल तो यह ही व्यवस्था नहीं बरं सकती कि यह ज्ञान आत्मामें जुड़ जाय। अगर कोई सम्बद्ध भी मानते समवायसे जुड़ जायगा ज्ञान आत्मामें, तो यह ज्ञान आत्मामें ही बयों जुड़ता है, आकाश वर्गरहमें बयों नहीं जुड़ जाता है? जब स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं ये सब सो उसमें यह दिविषा क्यों हुई?

अस्वसंविदित और अचेतन ज्ञानकी सिद्धि न होनेसे संतानत्व हेतुका असिद्धहेत्वाभासपना—मुणोच्छेदरूप मोक्षके प्रसङ्गमें अब देखिये! दूसरी बात ज्ञान स्वयं अपनेको नहीं जानता, ऐसा कङ्कालार मानता है। ज्ञानको जाननेके लिए दूसरा ज्ञान चाहिए, तब उसे जाननेके लिए तीसरा ज्ञान चाहिये। जब भ्रकट ज्ञान ही नहीं बन पाया तो ज्ञानोंकी संतान बताना ये सब बातें भी असङ्गत हो जायेगी। तीसरी बात संतान स्वयं ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप? आत्मामें ज्ञानके बाद ज्ञान, ज्ञानके बाद ज्ञान यह तो चलता रहता है, अथवा यह ज्ञानकी परम्परा चल रही है, सो यहाँ जो सुमने भर्तान आना है वह संतान शुद्ध ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप? ज्ञानरूप तो आना ही नहीं है, ज्ञानरूप तो ज्ञान है। विशेषवादमें जितने कान्द हैं, जितने स्वरूप हैं, जितनी समझ है, उतने ही स्वतन्त्र पदार्थ हैं? इस अज्ञानरूप संतानका सत्त्व ही सिद्ध नहीं होता। वह किसरूप है संतान, वथा आकाश रखता है? उसका कोई स्वरूप न

होनेसे संतान विद्ध नहीं होता । और संतानत्व हेतु देते, इस कारण असिद्ध हेतु है, तुमने यह हेतु दिया था कि ज्ञान सुख दुःख आदिकके बिल्कुल, नष्ट होनेका नाम मोक्ष है, और ये सब गुण कभी बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं क्योंकि संतान होनेसे । तो गुणोच्छेद साध्यका बनाया हेतु संतानत्व बना हेतु और गुणोंका उच्छेद बना साध्य । लेकिन यह हेतु ही विद्ध नहीं होरहा है अतः यह अनुमान सही नहीं है ।

विकृत गुणोंके उच्छेदकी मोहस्वरूपमें अविरुद्धता — आत्मा स्वयं ज्ञानमय है । जिन्हें हम ज्ञान कहते हैं जो मोटेरूपसे समझमें आते हैं वे ज्ञान ज्ञानके वास्तविक स्वरूप नहीं हैं । जैसे विकल्प विचार विन्ना शोक इनमें जिस प्रकारका ज्ञान बलता है ये ज्ञान ज्ञानके विशुद्ध स्वरूप नहीं हैं, ये तो रागद्वेष ममता आदि कहने के बाटसे ज्ञानका काल्पनिकरूप बन गया है । यदि इस ही ज्ञानके विनाशका नाम मोक्ष कहते हो तथ तो कोई आपत्ति नहीं । ये क्षायोपशमिक ज्ञान, छुपुट ज्ञान ये आत्मामें न रहें उसका नाम मोक्ष है यह ठीक बात है । यदि आकृतताके जनक ऐसे ही ज्ञान बने रहें तो वहाँ मोक्ष कैसे होता है? लेकिन इन विकल्पतात्मक खोटे ज्ञानोंसे परे कोई एक ज्ञानरूप है जहाँ केलज जाननहार वित्तिरहती है, जहाँ रागद्वेष आदिक कोई तरङ्ग नहीं उठती है, ऐसा जो ज्ञानका सदृश विलास है उस विलासमें ज्ञानको नहीं परस्ती योग ।

आत्मगुणोच्छेदसे आत्मोच्छेदका प्रसंग — शंकाकारका मन्तव्य है कि ज्ञानादिक गुणोंके उच्छेदका नाम मोक्ष है अच्छा तो बताओ, वे गुण आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न ? उन ज्ञानादिक गुणोंको आत्मासे भिन्न माननेपर न तो संतान बनती है, न सम्बन्ध जुड़ता और न कोई व्यवस्था बनती तब यदि उन गुणोंको आत्मासे अभिन्न मान लोगे कि गुण वे सब ज्ञानादिक आत्मामें अभिन्न हैं । तन्मय हैं एकरूप हैं । तो इसका अर्थ यह हुआ कि जब ज्ञानादिक गुणोंका उच्छेद होआ तो आत्माका नाश हो गया, क्यों कि अब आत्माको ज्ञानसे अभिन्न माना और फिर ज्ञानका उच्छेद माना तो जो आत्मा का ही उच्छेद कहलाया फिर मोक्ष किसका हुआ ? कथंचित् भेद मानो, अभेद मानो तब तो व्यवस्था बन सकती है, पर यह कथंचिदाद वैशेषिकोंने नहीं माना है ।

स्याद्वादके स्वरूपका दिग्दर्शन — कथांचिदाद कहो, स्याद्वाद कहो एक ही प्रयोगन है स्याद्वादका रूप क्या है जो कि जैस दर्शनके तत्त्व का यूल साधन है । स्याद्वाद मायने अपेक्षावाद । अपेक्षा रखकर निर्णयकी बात कहना स्याद्वाद है । जैसे कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है । इसमें एक बात विशेष ज्ञाननेको है । स्याद्वाद निर्णयवाद है संशयवाद नहीं है । यद्यपि एक मोटेरूपसे अपेक्षाको अन्तर्ज्ञान करकेभले ही भी, लगा देते हैं, जीव नित्य भी हैं जीव अनित्य भी है, मगर भी शब्द संशयवादका भी प्रतीक है बहुत सीमामें और “ही” निर्णयवादका ही प्रतीक है

स्याद्वादके प्रयोगमें महाबियोंकी प्रक्रिया 'भी' लगानेकी नहीं रही। यह तो उसका भाव समझकर हम उरजतासे उसे बतलानेके लिए भी का प्रयोग करते हैं। 'स्यादस्त्येव स्या न्नास्त्येव, स्याज्ञान्यमेव स्यादनित्यमेव ।' इस प्रकार एव लगा लगाकर प्रयोग है। जैसे किसी एक युवकका परिचय लेना था तो परिचय देने वाला जैसे कोई नाम रखलो मोहन सोहन और रोहन। यहाँ सोहन युवकका परिचय देना है। सोहनका पिता है मोहन और पुत्र है रोहन। तो कोई इस प्रकार तो नहीं कहता कि सोहन मोहनका पुत्र भी है है पुत्र, पर भी लगानेका भाव हुआ कि श्रीर कुछ भी है। याने सोहन मोहनका पुत्र भी है। ऐसा कहने में तो बड़े गाली समझेगा। क्योंकि उसका भाव है कि सोहन मोहनका पिता भी होता तो अपेक्षा लगाकर हृषि लगाकर वर्म बतानेके साथ लगाद गलत हो जाता है। वहाँ 'ही' का प्रयोग चलता है। जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है। और कोई यों कह बैठे कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य भी है। तो नित्य है यद्यपि लेकिन भी लगानेसे गलत हो गया याने द्रव्यदृष्टिसे वह ^{प्राणित्य} भी होता होगा? वही निर्णय नहीं आया। स्याद्वादमें निर्णय पड़ा हुआ है कि यह इस दृष्टिसे ऐसा ही है। जीव पर्यावरणदृष्टिसे अनित्य ही है, स्याद्वादमें निर्णय पड़ा हुआ है एकट्रिट्टिकी स्थृतता बनाई गई है। किसी भी पदार्थको परिपूर्ण जाननेके लिए हमें अपेक्षा चाहिए। इस बैचके बारेमें कोई परिचय दे तो कोई कहेगा कि यह बैच ५ फिट लम्बी है, कोई कहेगा कि यह १ फुट ऊँची है तो कोई कहेगा कि यह १५ इंच ऊँड़ी है। तो यद्यपि ये सभी बातें सही हैं ५ फिट लम्बी लम्बाईकी अपेक्षासे है, ? फुट ऊँचाईकी अपेक्षासे है और १५ इंच ऊँड़ाईकी अपेक्षासे है। मगर जोई कहे कि लम्बाईकी दृष्टिसे यह बैच ५ फिट भी है तो उसका यह कहना गलत है। वहाँ 'ही' आयगा। लम्बाईकी अपेक्षासे यह ऊँची ५ फिट ही है, ऐसा कहनेमें अपेक्षाका स्पष्ट बोध होगा। जब अपेक्षासे वस्तुको निरल रहे हैं तो वहाँ संशयका क्या काम? निर्णय ही वहाँ पड़ा हुआ है। तो वस्तुस्वरूपके तत्त्वपरिचयका साधन एक स्याद्वाद है।

स्याद्वादका उपकार—यदि यह स्याद्वाद न होता तो हम लोग तत्त्वज्ञान ही क्या करते? तत्त्वज्ञानकी बात तो जाने दो, व्यवहारका भी काम नहीं चल सकता था, हम जीवित भी न रह सकते थे। ये सभी काम स्याद्वादके प्रसादसे हो रहे हैं। जाहे व्यापार हो, रोजिगार हो, खाने-पीने पहिनने औढ़ने प्रादिके कार्य हों, सभी जगह स्याद्वादका प्रयोग कर रहे हैं, फिर भी उसीका निषेच कर रहे हैं तो यह उन नास्तिकों जैसीं बात है जो कहते कि आत्मा नहीं है, जो समझ रहा है वह आत्मा नहीं है क्या? वह समझने वाला है क्या? समझने वाला होकर भी अपनी समझका निषेच करे, उस प्रकारकी यह बात है। हों, यह आविरी बात है कि स्याद्वादसे पदार्थ का निर्णय करके फिर उसमें हेतु बुद्धि का परिज्ञान किया जाता। हा, पर्यावरणदृष्टिसे यह जीव अनित्य है द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर उस अनित्यको उपयोगमें रखनेसे हमारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता इसलिए उस अनित्य विषयको छोड़िए प्यार इस नित्य घुरु

स्वभावका आश्रय कीजिए । तो अभी निश्चयका विकल्प पकड़ लिया, इसके बाद फिर एक स्थिति ऐसी आती है कि जहां न छोड़नेकी बात रहती न ग्रहणके विकल्पकी बात रहती, किन्तु एक विशुद्ध आत्मानुभव रहता है, ज्ञानानुभव रहता है । तो वह अनुभव साध्य है और उसके निकट यह भेद साधन है तो उसका उत्थयोग करनेकी बात जिन आवस्यमें होती है वह तो होती है, परन्तु स्याद्वादके बिना नहीं होपाती । मोह छोड़ो किनसे मोह छोड़ें ? इन परिवारजनोंसे मोह छोड़ो ! कैसे छोड़ें ? यथार्थ बात जान लो कि इन परिवार जनोंके मायने क्या ? इन परिवारजनोंके मायने है शारीरसे मोह छोड़ दो । यह शारीर जीव, कर्म और शारीर इन तीनका समूह है, अनन्त अणुओंका पुञ्ज यह शारीर है और कर्म उससे भी अनन्तगुणे अणुओंका पुञ्ज है, और उसके बीच पड़ा हुआ यह जीव एक है । जिसे हम आप अहं अहं इस प्रत्ययसे बोध करते हैं तो यह जीव, कर्म और शारीर इन तीन चीजोंका समूह है । तो इनमेंसे जीव तत्त्वसे तो कोई मोह करता नहीं । वह तो अमूर्त है । यदि उस जीवतत्त्वसे कोई मोह कर बैठे तो उसे मोह करनेका होवा ही न रहेगा अथात् उसकी बेहीशी मिट जायगी । उसके तो तरवज्ञान जग जायेगा । कर्मोंसे भी कोई मोह न दी करता, उनका तो कोई लयाल भी नहीं करता । और इस शारीरसे भी कोई मोह नहीं करता, क्योंकि इस शारीरसे जब जीव बाहर निकल जाता है तो लोग निःशक होकर उसे बला देते हैं । उससे किर कोई भ्रिति करता है क्या ? तो मोह करना कुछ व्यर्थसा लगने लगा । ये सब ऐसी युक्तियां इस स्याद्वादसे अपने आप मिल जाती हैं । तो तत्त्वज्ञानका मूल साधन है यह स्याद्वाद ।

जैनदर्शनमें महत्त्वपूर्ण मूल उगाय —कोई पूछे अथवा खुद ही कोई मनमें यह शङ्खा लाये कि ऐसी कीनसी बात है जैनदर्शनमें जो अन्यत्र हमें प्राप्त नहीं होती ? पापोंका त्याग करो ! यह बात तो मब जगह सुननेको मिलती है, दूसरोंको अपना जैसा मानो, ऐसा सब जगह सुननेको मिलता है । नियम संयमसे रहो, तपश्चरण को ऐसा सभी जगह सुननेको मिलता है । भले ही एक पूल प्रकाशके पाये बिना उन सब बातोंमें अन्तर है लेकिन मोटेहरमें तो सभी जगह यह बात मिलती है, उपदेश होते हैं, खास बात वह कीनसी है जो हमें यही (जैनदर्शनमें) प्राप्त होती है ? तो वह खास बात है—तत्त्वज्ञान करनेका जो उगाय है वह जैनदर्शनमें सही बताया गया है और जिसके बलपर फिर निरंश दोनोंपर पाप छोड़े । उसमें भी विशेषता आती है, नियम पाले उसमें भी विशेषता आती है । चब उद्देश्य एक सही बर जाता है और तत्त्वस्वरूप एक दृष्टिमें आ जाता है तब समझिए कि हमारे ब्रह्म नियम, संयम, त्याग आदि में एक सहीपन (यथार्थता) आ जाता है । तो हमारा कर्तव्य है यह कि ऐसी बुद्धिको प्राप्त करके ऐसे शासन समागमको प्राप्त करके हम इस और विशेष ध्यान दें कि हम वस्तुस्वरूपका ज्ञान करें कि वास्तविक तत्त्व क्या है ? मैं क्या हूँ ? विश्व क्या है ? स्मागम क्या है ? यह ज्ञानप्रकाश होगा तो मोह दूर होगा, भीतरमें एक विशिष्ट

आनन्दका अनुभव होगा और संसारके सङ्कटोंसे सदाके लिए छूट जायेगे ।

संतानत्व हेतुमें परसामान्यरूप व अपरसामान्यरूपका विकल्प - ज्ञानादिक गुणोंके उच्चेदका नाम मोक्ष है इसकी सिद्धिमें जो भृतानत्व हेतु दिया है कि संतानपना होनेके कारण ज्ञानादिक गुणोंका अभाव हो जाता है तो यह संतानत्व हेतु सामान्यरूप है या विशेषरूप ? याने सामान्य संतानपना या विशेष संतानपना ? इन दोमेंसे कौनसा संतानपना हेतु है ? यदि कहो कि सामान्यरूप संतानका हेतु है तो सामान्य दो प्रकारके हुए करते हैं—परसामान्य और अपरसामान्य । परसामान्य उसे कहते हैं जिससे और व्यापी कोई सामान्य न हो । जैसे मनुष्य सामान्यको कहा तो मनुष्य सामान्यमें मनुष्य आ गए मगर कुछ और बच गए । जैसे — पशु पक्षी ! तो अभी यहांपर सामान्य नहीं हो सका, परसामान्य वह कहलाता है कि जिससे बढ़कर जिससे व्यापी और सामान्य न हो । जब कहना चाहें जीवसामान्यको तो जीवसामान्य कहनेपर जीव जीव तो सब आ गए मगर अजीव पदार्थ नहीं आये । तो यह भी परसामान्य नहीं रहा । जब कहो सत् सामान्य तो इसमें सब आ गये, कोई नहीं बचा । तो यह कहलाया परसामान्य और परसामान्यके भेद करके किसी भी भेदकी सामान्यरूपसे बोला जाय उसका नाम है अपरसामान्य ! जैसे—सत्के दो भेद किए हैं—जीव और अजीव । अब उनमें जीवसामान्य बोलोगे तो वह अपरसामान्य है । तो संतानपना हेतु जो कहा है वह परसामान्यरूपसे है या अपरसामान्यरूपसे ? ये दो विकल्प रखे ।

परसामान्यरूप संतानत्वहेतुमें अनेकान्तिक दोष — यदि कहो कि संतानपना परसामान्यरूप है तो उसका बतलव यही तो हुआ ना कि परसामान्यरूप संतानपना होनेसे ज्ञानादिक गुणोंका उच्चेद हो जाता है । जो जो परसामान्यरूप संतान हो उसका नाश हो जाता है । यह उसकी क्षमता बनी, तो जैसे आकाश है वह परसामान्यरूप संतान है । समझमें आता है ना, कि आकाशके एक स्थानके बाद दूसरा स्थान लगा, प्रदेशोंकी संतान बराबर चल रही है । एक प्रदेशके बाद दूसरा, दूसरंके बाद तीसरा है, इस तरह प्रदेशोंकी संतान बराबर चल रही है अथवा आकाश पहिले था अब भी है आगे भी रहेगा । तीन कालकी अपेक्षा भी संतान है लेकिन आकाशका कभी उच्चेष्ट होता है क्या ? तो परसामान्यरूप संतानपना हेतु रखकर भी आकाशमें साध्य नहीं रहा अर्थात् उच्चेदरूप साध्य नहीं रहा । तो यह हेतु अनेकान्तिक हो गया, क्योंकि आकाशका अन्त उच्चेद न होनेपर भी संतानत्व हेतु वहाँ बराबर रहता है । किस दूसरी बात यह है कि संतानत्व हेतु परसामान्यरूप माना है तो परसामान्यरूपका प्रयोग है सत् सामान्यरूप । तो संतानत्वमें माना ना, संतानरूप; तो संतानत्वमें यदि सत् सामान्यपना माना है तो वहाँ सत् सत् इस प्रकारका ही ज्ञान होना चाहिये । संतान संतान इस तरहके ज्ञानका ही वह कारण होना चाहिये । यह नहीं कि संतानत्वके ज्ञानका कारण ही जाय ! तो इससे परसामान्यरूप संतानपना हेतु है, यह बात

सिद्ध नहीं होती ।

अपरसामान्यरूप संतानत्व हेतु माननेपर दृष्टान्तकी साधनविकलता—
यदि कहो कि अपर साक्षात्कार संतानत्व हेतु है अर्थात् विशेषजुणका आश्रय रखने वाला एक जातिरूप संतानपना हेतु है तो हेतु तो वन यथा किसी विशेष गुणाभक्त जातिरूप । तो वह हेतु तुम्हारे कलिंग पक्षमें रहे तो रहा आये, परन्तु किसी दृष्टान्तमें रह नहीं सकता, क्योंकि विशेष गुणाभक्त संतानपना हेतु मारा है । तो जिस गुणरूप संतानत्व ज्ञानादिक गुणके उच्छेदयें हो सकते हैं उन गुणरूप संतानत्व हेतु प्रबोधमें कैसे होगा ? प्रबोधमें अन्य गुणरूप संतानपना है, तो जब दृष्टान्तमें हेतु नहीं रह सकता तो दृष्टान्त साधनविकल हो गया । जो दृष्टान्त विशेष गया उसमें साध्य तो तुम मान रहे, क्योंकि साध्य होता है इष्ट । नो तुम्हारा इष्ट है ही पर साधन तो वादी प्रतिवादी दोनोंके द्वारा सम्मत होता है । तो यहां संतानपना कहा है प्रबोधमें । तो साधन नहीं रहा, इस कारण अपरसामान्यरूप भी संतानपना हेतु कुछ मही है ।

सामान्यरूप संतानत्वका गुणादिकमें सम्बन्धका अनियम—तीसरी बात यह है कि संतानत्व चाहे परसामान्यरूप हो चाहे अपर सामान्यरूप हो, सामान्य तो द्रव्यसे भिन्न माना गया है विशेषजुणान्तमें, क्योंकि विशेषज्ञादमें ६ प्रकारके पदार्थ हैं और वे सभी सत् हैं, स्वतन्त्र हैं । वे क्येः कौन है ? द्रव्य गुण, क्रिया अर्थात् पर्याय, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । तो सामान्य एक स्वतन्त्र सत् है. तो वह हो गया भिन्न ज्ञानादिक गुणोंसे तो उस भिन्न पर सामान्यका अथवा अपरसामान्यका गुणमें सम्बन्ध कैसे बन गया, जो सर्वथा भिन्न होता है उसका सम्बन्ध नहीं बन सकता । यदि समवाय सम्बन्धसे सम्बन्ध जोड़नेकी टेक रखो तो इसका उत्तर दो कि यह परसामान्य ज्ञानमें ही क्यों लगा अन्य सतमें क्यों नहीं लगा ? तो सर्वथा भिन्न पदार्थका समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता है । और समवायका स्वरूप भी कुछ नहीं । समवाय क्या चोन्ह है । जैसे जीव है, भौतिक पदार्थ है इस तरह समवाय भी क्या कोई सत् स्वरूप है । उसका क्या आकार है वया गुण है यह सब कुछ भी नहीं सिद्ध होता । नो संतानत्वहेतु सामान्यरूप होकर ज्ञानादिक गुणोंके उच्छेदरूप साध्यको सिद्ध करना यह तो बात असंगत रही ।

विशेषरूप संतानत्वहेतुके दो विकल्प—यदि कहो कि संतानत्व हेतु विशेष रूप है तो विशेषरूप निसे हैं दो प्रकारके । विशेषरूपकी संतान होनेका अर्थ यह हुआ ना कि विशेष के बाद फिर विशेष फिर विशेष इस तरह विशेष के बाद विशेष लगातार चल रहे हो तो उसके मायने है कि विशेषरूप संतान हुआ तो वह विशेषरूप क्या है ? संतान जो विशेषरूप आ सकते हैं वे दो प्रकारके हो सकते हैं एक तो उपादान उपादेवरूप और दूसरा पूर्वार्पणहिले और आगे ममान जाति वाला सत् निस्तर चलता रहे यों समान जातीय सतुका प्रवाह चले इसको भी संतान कह सकते हैं । तो संतानके इन

दो प्रकारोंमेंसे तुम्हारा विशेषरूप संतानगता किस प्रकारका है ? जैसे हृष्टान्तमें देखो बीजसे वृक्ष हुआ वृक्षसे बीज हुआ तो यह संतान है उपादान उपादेयभूत । बीजसे वृक्ष हुआ तो बीज तो है उपादान और उपादेय है वृक्ष । जब वृक्षसे बीज हुआ तो वृक्ष है उपादान और बीज है उपादेय । तो एक संतान उपादान उपादेय रूप चलती है । जैसे घड़ा बना तो मृतपिण्ड है उपादान । तो जब आपको जो अवस्था है वह है उपादेय फिर तो जब उसके बाद जो दशा बनी उसमें भी उपादान उपादेय है । तो उपादान उपादेय भूत ज्ञानादिक लक्षण वाला आपका विशेषरूप सामान्य है परथवा पूर्वापर स गत जातीय सतुके प्रवाह रूप आपका यह संतान है । जैसे पानी वह रहा है तो जो जल वहाँ उसके आगे जो जल वहा वह सब समान जातीय वह रहा है । उसे भी संतान कहते हैं । उसमें उपादान उपादेय तो कुछ है नहीं । समान जातीय जीव पिण्ड है और वह लगातार धारामें चल रहा है उसे भी संतान कहते हैं । तो संतानके इन दो प्रकारोंमेंसे तुम्हारा कौन सा प्रकार है इस तरह यहाँ ये दो विकल्प किये गये ।

उपादानोपादेयभूतगुणक्षणविशेषरूप संतानत्व हेतुकी सदोषता - मोक्ष का गुणोच्छेद स्वरूप सिद्ध करनेके लिए जो संतानत्व हेतु दिया है वह संतानत्व सामान्य रूप तो बना नहीं । विशेषरूप माननेपर ये दो विकल्प किए गये । क्या उपादान उपादेय भूत बुद्धि आदिक रूप वह संतानत्व है या पूर्वापर समान जातीय परथियके प्रवाह रूप वह संतानत्व है । यदि कहो कि उपादान उपादेयभूत ज्ञानादिकरूप जो परथिय है, उस विशेषताको लिए हुए संतानत्व हेतु यहाँ अभीष्ट है तो ऐसे संतानत्वहेतुमें असाधारण अनेकांतिकपनेका दंष ज्ञाता है, क्योंकि ऐसा संतानत्व हेतु हृष्टान्तमें नहीं पाया जाता । प्रदीप हृष्टान्तमें हृष्टान्तपना बनाने की दो किस्में हो सकती हैं एक तो उस ही दीपकमें जो पूर्वापर ज्वलन चलता रहता है उसमें संतान समझना और एक दीपकसे दूसरा दीपक जलाया जाये, उससे तीसरा दीपक जलाया जाय यों भी संतानपना दीपकमें माना जा सकता है । तो दीपकसे दीपक जलते रहे ऐसा जो संतानत्व है उसमें उपादान उपादेय भूत संतानपना नहीं पाया जाता तथा विशेषवाका उपादानोपादेय रूप संतानत्व भी नहीं ही सकता दूसरी बात यह है कि इसमें तुम्हारे ही सिद्धान्तसे विरोध ज्ञाता है क्योंकि शंकाकार ने खुद ऐसा नहीं माना कि पूर्वज्ञान तो उपादान होता है और अपर ज्ञान उपादेय होता हो, क्यों नहीं माना ऐसा ? कि यदि यह शंकाकार यों मान बैठता है कि पूर्वज्ञान तो उपादान होता है और पश्चात होने वाला ज्ञान उपादेय होता है तो भृत्य अवस्थामें भी पूर्व पूर्वज्ञान उपादान बनने के कारण और उत्तर उत्तरज्ञान उपादेय बनते चले जायेंगे तो मुक्त होनेपर भी ज्ञानके संतानका उच्छेद नहीं हो सकता । और ज्ञान संतानके उच्छेद कोही मोक्ष कहा जारहा है । इससे इस प्रकारका विशेषरूप संतान बना न शंकाकारने माना है और न बनता है । वैसे देखा जाय तो संतानत्वका यह अर्थ बहुत अस्त्वा है कि पूर्वज्ञान उपादान बने और दूसरा क्षण उपादेय बने । इस तरह उपादान उपादेय बन बनकर वह चलता रहे यह संतानपना बहुत मुक्त जबता है, जैसे

बीजसे दृष्ट और दृष्टसे बीज, तो यह संतानत्व रहे लेकिन ऐसा संतानपना पान लेनेसे मुक्त होनेपर भी वह संतान चलता रहेगा। जब अनित्म ज्ञान उपादानरूप है तो वह अनित्म कैसे रहा? उसके आगे अन्य ज्ञान बनेगा तो ज्ञानसे ज्ञान उत्तरन्न होते उल जायेंगे ज्ञानका उच्छेद नहीं हो सकता।

पूर्वपिरसमानजातीयक्षणप्रवाहमय विशेषरूप संतानत्व हेतुकी सदोषता— यदि यह कहेगे कि हम विशेषरूप सामान्यका अर्थ यह करते हैं कि पूर्व और उत्तर कालमें जो समान जातीय प्रवाह चल रहा है। जैसे किसी पदार्थमें रूप है। अब उस रूपके बाद इस ही प्रकारका रूप चल रहा है। कोई पदार्थ पीला है तो पीला पीला निरन्तर बन रहा है ना तो समान जातीय पर्यायिका प्रवाह होना इसका नाम संतान है तो ऐसा संतान माननेपर तो प्रमाणके रूप आदिकके साथ अनैकानित्क हो जायगा, अर्थात् ऐसा संतान परमाणुके रूप गव रस आदिकमें 'मल गया उस ही प्रकारके रूपके बाद अन्य रूप होते जाये, गंध होते जाये, ऐसी इन परिणामियोंकी परम्परा रूप संतान परमाणु में तो भिन्न गयी पर उसका उच्छेद नहीं होता। तो साधन होने पर भी साड्य न हो तो उसे अनैकानित्क दोष कहते हैं। तो इस प्रकार यह संत नत्वहेतु ही असिद्ध है। असिद्ध दो प्रकारके होते हैं एक स्वरूपासिद्ध और दूसरा आश्रयासिद्ध। जिसका स्वरूप ही सिद्ध न हो उसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं और जिसका स्वरूप तो सिद्ध हो पर हेतु पक्षमें न पाया जाय उसे आश्रयासिद्ध कहते हैं। अब देखिये स्वतंत्र सत् गुणोंकी संतान क्या चीज होती है गुणोंमें संतान भी नहीं पाया जा रहा है तो यह हेतु असिद्ध दोषसे दृष्टिं हो जाता है।

भेदवादमें सन्तानकी असंगतता— यह संतानत्व हेतु घटिक भी न हो सकेगा विशेषवादमें कि पूर्वक्षण कारण हो उत्तरक्षण कार्य हो, क्योंकि संतानपना तो वहां ही सम्भव है जहाँ वस्तु नित्यनित्यात्मक हो। कार्यकारणभाव न एकान्त नित्यमें बन सकता न अनित्यमें सर्वथा नित्य या अनित्यमें उसकी अर्थक्रिया सम्भव नहीं इस कारण संतानत्व हेतु देकरके गुणोच्छेद रूप भौतिको सिद्ध करकी बात असंगत है। जिस मन्तव्यमें प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक गुण स्वतंत्र सत् है। प्रत्येक कर्स (क्रिया) अर्थात् विविध परिणामियाँ स्वतंत्र सत् हैं, सामान्य भी स्वतंत्र सत् है, विशेष भी स्वतंत्र सत् है वहाँ न तो कार्यकारणभाव बन सकता और न उनमें प्रवाहरूप संतानत्व बन सकता है। जितने भी सत् हैं वे स्वतंत्र ही हुआ करते हैं। कोई भी सत् प्रपने स्वतंत्र के लिये परकी अपेक्षा नहीं कर सकता है। सत् स्वतः सिद्ध होते हैं। स्वसहाय होते हैं। अतः किसी भी सत् किसी अन्य सत्के साथ संतानत्व जोड़ना असंगत है। लोकव्यवहार में जो सन्तान कहा करते हैं वहाँ निसित्तनैमित्कभावकी विशेषता दिखानेका प्रयोजन है। और फिर आत्माचरूप ज्ञान गुणका उच्छेद बतानेके लिये सन्तानत्व हेतु देना तो संगत ही कैसे हो सकता है।

मोक्षकी आत्महितरूपता — आत्माका हित मोक्षमें है अर्थात् संसारके मुमत्त सङ्कटोंसे छूट जानेमें ही आत्माकी भलाई है । और चाहते हैं सभी लोग यही कि सब सङ्कटोंसे मुक्ति मिले तथा उपाय भी जितने करते हैं इसीका करते हैं कि सङ्कटोंसे छुटकारा हो । लेकिन मूलमें यह फर्क आ गया है उशायमें कि सङ्कट मान लिया है किसी और ही बातको ! सङ्कट तो हैं उनके विकल्प भी, पर उसके अलावा और भी सङ्कट हैं । जो मूल संकट है उसकी पहिचान नहीं हुई इसलिए न तो सकट मेटनेका मन्त्र उत्तरायं बना पा रहे हैं और न संकटसे ही छूट पा रहे हैं । लोगोंने संकट इसमें मान रखा है कि धन कम हो गया, किसी हृष्टका वियोग हो गया, शरीरमें रोग हो गया, किसीने अपमान कर दिया आदि । पर ये कोई भी इस जीवका संकट नहीं हैं । जीव तो अमृत है, उससे इन सब बाहरी चीजोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । यहाँ तक कि जिस शरीरमें यह जीव बस रहा है इस शरीरसे भी यह जीव खिल्कुल पृथक है । शरीर शरीर ही है, जीव जीव ही है । शरीरमें कोई रोग हो गया, किसीने अपमान कर दिया, धन कम होगया आदिक किसी भी चीजसे इस जीवका कुछ सम्बन्ध नहीं है । तो इन बाहरी चीजोंसे जीवपर संकट मानना यह तो मूढ़ताभरी बात है । इसी तरह इन बाहरी पदार्थोंसे अगर अराना सम्मान अगमान समझे तो यह भी मूढ़ता भरी बात है । तो लोगोंने बाहरी बातोंसे तो इस जीवपर संकट माना पर जीवपर जो मूल संकट है उसकी कुछ खबर नहीं की । इस कारण संकटोंसे छूटनेके उपायमें श्रम करके भी संकटोंसे छूट नहीं पाते ।

जीवपर मूल संकट — मूल संकट जीवपर यह है कि जीव तो जीव है । पर मात्मस्वरूप है, ज्ञानानन्द मूर्ति है, यहाँ किसी प्रकारका उपद्रव नहीं, लेकिन इस जीवके साथ कुछ दूसरी उपाधि लग बैठी, यह उपाधिका लगाना ही इस जीवपर बड़ी संकट है । यह उपाधि क्या लग गयी ? वह पहिली (हृष्यमान होनेके कारण वहिली उपाधि) उपाधि है शरीर ! भव भवमें इस शरीरकी विडब्बना जीवके साथ लगी हुई है । दूसरी उपाधि है कर्मकी । कर्म साथ लगे हैं, उन प्रकृतियोंके उदयमें यह जीव नाना रागद्वेष विभाव मचाता है । इसका जो ज्ञानस्वरूप है, वह भी विकसित नहीं हो पा रहा है, अशान्ति ही आ रही है । तो ये सब बातें सङ्कटकी इस जीवपर लगी हैं । इन सङ्कटोंसे छूटना है । इसका अर्थ यह है कि शरीर अलग हो, कर्म भी अलग हों तो सङ्कट दूर हो । और सङ्कट लगा है तीमरा भीतरी जो एकदम साक्षात् सङ्कट है, वह है रागद्वेष मोह आदिक भाव उत्पन्न होनेका । रागद्वेष आये हैं, इन सङ्कटोंसे हमें दूर होना है । यदि ऐसा भाव बने तो उसका यह अर्थ लगाना चाहिये कि हमें राग-द्वेष मोह भावोंसे दूर होना है ।

सकल संकटोंसे मुक्त होनेमें मोक्षस्वरूपता — जब ये सङ्कट छूट जाते हैं, रागद्वेषमोहभाव दूर हो जाते हैं, शरीर भी दूर हो जाता है, कर्म भी विदा हो जाते हैं

उस समय यह जीव केवल जीव रहता है। इसके साथ दूसरा कोई अबीव पदार्थ अब नहीं लगा हुआ है, ऐसा जब केवल जीव रह जाता है तो उस समय इसकी क्या स्थिति होती है? अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दशक्ति विकास हो जाता है। इसे निषेधरूप से यों कहो कि शरीर, कर्म, रागद्वेष इन तीन प्रकारके कर्मोंका विनाश होना इसका नाम मोक्ष है। इस मोक्ष अवस्थामें ही जीवका हित है। मोक्ष अवस्थामें अपने ही स्वरूपका लाभ है अर्थात् खुद पूरण विकसित हो जाय। इसीका नाम मोक्ष है।

गुणोच्छेदरूप मोक्षस्वरूपपर विचार— मोक्षका अनन्तचतुष्पथ लाभ स्वरूप सुनकर भेदेकान्तवादी दार्शनिकने कहा कि हमें मोक्षका यह स्वरूप नहीं जजता मोक्ष अनन्त चतुष्पथके लाभका नाम नहीं है किन्तु जीवके साथ ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, वर्य, अधर्म, संस्कार ये ६ चीजें लगी हैं, ये ६ गुण लगे हुए हैं। इनका विनाश हो जाय, ये आत्मामें न रहें इसका नाम मोक्ष है। अब भैया! योहो परस्त कीजिये। मोक्षके इस समय दो स्वरूप रखे हैं उनकी तुलना भी करते जायें। स्वोद्वादर्शन तो कहता है कि अनन्तज्ञानदर्शनसुखशक्तिचतुष्पथका लाभ हो जाना इसका नाम मांक है। जिन भगवानकी हम मूर्ति स्थापित करके पूजते हैं, मूर्तिको तो नहीं पूजते, किन्तु पूज्य प्रभुकी मूर्तिकी स्थापना की है, तो स्थापित मूर्तिमें हमारा आदर है और आदरपूर्वक हम मूर्तिके समक्ष व्यापन करते हैं प्रभु अरहंतका, सकल परमात्माका। इससे आगे अवस्था है सिद्ध भगवानको। जिसकी मूर्ति हम निराकारके रूपमें बनाते हैं तो उस मूर्तिको भी सामने रखकर पूजना किसको है? सिद्ध भगवान को! तो अरहंत और सिद्धविश्वरूपमें दोनोंके मोक्ष हैं और उपर मोक्षका स्वरूप है। अनन्तज्ञानदर्शनशक्तिआनन्दचतुष्पथका लाभ हो जाना। जैनदर्शनने तो मोक्षका यह स्वरूप कहा, और वैशेषिक दर्शन जो भैद ही भैदको मानता है, उसके मोक्षका स्वरूप वह है कि मात्मामें जो ज्ञानादिक गुण लगे हुए हैं ये गुण नष्ट हो जायें, गुणोंका वियोग हो जाय, आत्मा गुणरहित हो जाय उसका नाम मोक्ष है। और इसीपर आलोचना चल रही है कि मोक्षका वास्तविक स्वरूप क्या है?

संतानत्व हेतुकी असिद्धता और विश्वदत्ता— मोक्षका स्वरूप कहना कि बुद्ध आदिक गुणोंका उच्छेद हो जाय इसका नाम मुक्ति है और इस मुक्तिको सिद्ध करनेमें वैशेषिक दर्शन यह हेतु देता है कि संतानपना होनेसे चूँकि आत्मामें ज्ञानकी संतान चल रही है, ज्ञान हुआ फिर ज्ञान हुआ, यों ज्ञानकी परम्परा चलती रहती है, उसका कहीं उच्छेद हो जाता है यह वैशेषिक लोगोंका हेतु है। जैसे दीपक जल रहा है तो दीपककी संतान चलती रहती है। अगर एक घटे दीपक जला तो एक एक बूँद लेली कीराबर आ आकर जलती रहती है इसी प्रकार ज्ञानकी संतान चल रही हैं। तो जब कोई संतान न रहेगी, ज्ञान नष्ट हो जायगा तब आत्मा ज्ञानरहित हो गया

इसका नाम मोक्ष है। इस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्तवादी मोक्षका जैसा स्वरूप कहते हैं उसके प्रति कहा जा रहा है कि यह हेतु विरुद्ध है, क्योंकि संतान नाम किसका है? कारण कार्य बनते जानेका ! बहुत बूँदोंसे जलने वाले दीपकमें के पूर्व पूर्व बूँद वाले दीप ज्योतिका कारण बनती है और उसकी अगली ज्योति कार्य बनती है। जैसे वृक्ष और बीजोंकी संतान चलती है तो बीज कारण बनता है, वृक्ष कार्य बनता है, वृक्षसे फिर बीज होते, तो वृक्ष कारण बनता है, बीज कार्य बनता है। यों बीज और वृक्षकी परम्परा चलती रहती है। तो ऐसे ही आत्मामें ज्ञानकी संतान चलती है, ज्ञानमें परम्परा चलती है, तो एकके बाद एक ज्ञानका पर्याय है कि पहिला ज्ञान छोड़ कर हुआ तो पूर्वज्ञान कारण हुआ और अगला कार्य हुआ। कार्यकारणरूप जो संतान है, यह एकान्त नित्य क्यों कार्यकारणभाव नहीं बनता। अर्थात् कोई बीज ज्योंकी त्यों अपरिणामी सदा बनी हुई है। जब उसमें कोई विकार हो नहीं प्राप्ति बनता जाय तो कार्यकारण नहीं बन सकता और एकान्ततः अनित्य ही पदार्थ तो उसमें भी संतान नहीं बनती। जैसे बिखरे हुए चने पड़े हैं, स्वतंत्र स्वतन्त्र हैं तो उनकी संतान क्या बने? इसी प्रकार अनित्यमें प्रत्येक समयका जो कार्य है, पदार्थ है, यह तो स्वतन्त्र है, वह तो होकर भिट गया, फिर नये समयमें नया आया तो उसकी संतान क्या बने?

अनेकान्तमें अर्थक्रियाकी संभवता—एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य के आशयमें न संतान बन सकती है न उसका उच्चेद सम्भव है, अर्थक्रिया विना सत् क्षया अरना कोई पदार्थ कुछ काम कर सके यह बात अनेकान्तमें ही सम्भव है। जैसे सीधी अंगुलीको टेढ़ी करदी तो अंगुली यदि अनित्य है, पहिले समयमें थी, प्रब नहीं रही तो फिर अंगुलीका टेढ़ा काम होना तो नहीं बन सकता। यदि अंगुली अपरिणामी है, इसमें कुछ भी विकार नहीं प्राप्त होता तो टेढ़ी नहीं की जा सकती। काम बनता है उस पदार्थमें जो कथंचित् विष्ट हो कथंचित् अनित्य हो। जब द्रव्यरूपसे पदार्थ आगे तक है तब कहा जायगा पर्यायदृष्टिसे ज्ञात होने वाले परिणामनको निरखकर कि इसमें कोई बात हुई। जैसे अंगुली अपरिणामी है तो अर्थक्रिया क्या? और यदि कारण-कारणमें नई-नई होती अनित्य में, तो बात किसमें मानोगे? इसी प्रकार पदार्थ अगर नित्य ही है तो इससे कोई काम नहीं बन सकता उथा अनित्य ही है तो उसमें अर्थक्रिया नहीं बन सकती। हाँ, द्रव्यदृष्टिसे नित्य पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है कि पदार्थ सदा रहता है और उसमें पहिली पर्याय विलीन होती है और अगली पर्याय उत्पन्न होती है तो उसमें कार्य बन जाता है। तो अर्थ न होनेसे, अर्थक्रिया न होनेसे संतानपना तुम्हारे कुछ आदिकमें बन नहीं सकता।

गुणोच्चेदके अनुमानप्रयोगमें दिये गये दृष्टान्तकी साध्यविकलता—
दूसरी बात यह है कि तुम्हारे संतानत्व हेतुके साध्य उच्चेदके लिये दृष्टान्त कुछ भी

नहीं मिलता । दृष्टान्त दिवा था यह कि जैसे दीपकी संतान घलती है सो दीपक भी गिल्कुल मिट जाता है, यह दृष्टान्त नहीं बनता दीपक बिल्कुल कभी नहीं मिटता । कैसे ? जब दीपक बुझ गया तो यह नहीं होता कि दीपकमें जो परमाणु थे वे परमाणु नष्ट हो गए । अरे, वे धुवांरूपमें पतले होकर आकाशमें फैल गए था अन्य किसी रूप में ? जो अभी परमाणु उजेलके रूपमें जल रहे थे वे कुछ अंधेरेलदमें फैल गए, पर परमाणुओंका विनाश नहीं होता । शब्द विद्युत दीपक अधिक जो भी दृष्टान्त दोगे कि वे नष्ट हो जाते हैं वे सर्वथा नष्ट नहीं होते, किसी न किसी रूपमें वे प्रदार्थ बने रहते हैं । यह मेघोंमें जो गतला उबला आता है वह पहिले उबला रूपमें दीखा बादमें अंधेरे रूपमें प्रा गया, उसका सर्वथा विनाश नहीं हुआ । यह भी नहीं कह सकते कि “द्वास्त होजानेपर भी उस दीपक अधिकार्ये द्वासरा परिणामन् तुम भान रहे हो तो उसमें प्रत्यक्षसे बाधा आ रही । कहाँ है दीपक ? उसमें कैसे हुई नई बात, वह तो बिल्कुल ही मिट गया ।” यों प्रत्यक्ष बाधाकी नई बात यहाँ कह नहीं सकते । आंखोंसे दृश्य न होने प्रांपितादिके अखुशोंमें प्रत्यक्ष बाधा यदि कहते हो तो उषण जलमें तेजो द्रव्यभी प्रत्यक्ष बाधित है उसे बाधित क्यों नहीं मानते ? वैशेषिक दर्शनमें इस तरहकी व्यवस्था मानी गई है कि जितनी गर्भी है वह सब तेजो द्रव्यकी है, अग्निकी है । जहाँ जहाँ गर्भी मिले वहाँ चमकतो हुई कुछ न कुछ आग पड़ी है । तो जब पानी गरम हो जाता है तो गरम पानीके भीतर आग है या जलकी उषणता है ? सो वे जलकी उषणता वैशेषिकवादी कहते हैं कि जब जल गर्म हो जाता है तो वह जलकी गर्भी नहीं है । जो आग है उसकी गर्भी है तो वहाँ भी प्रत्यक्ष बाधा है । उस पानीमें चमकती हुई भासुररूप निर्मल अग्नि तो दिखती नहीं, वहाँ भी प्रत्यक्ष बाधा है । परिदि यह कहो कि गर्भी भासुररूप बाले तेजो द्रव्यके बिना बिल्कुल हो नहीं सकता इसलिए यद्यपि वह अग्निरूप द्रव्य पानीमें प्रकट नहीं हो रहा किर भी उसका अनुगान जान होता है कि उषण जलमें भासुर तेजो द्रव्य है । तो कहते हैं कि इस तरह यह भी मानना चाहिये कि दीपक बुझ गया तो इसके पायने यह नहीं है कि दीपकका सर्वथा उच्छेद होगया, जिन स्कन्धोंसे दीपक बना था वह अथकाररूपमें रहकर अब भी बना हुआ है । इसमें कोई गाधा नहीं आती, यह क्यों न मानलो !

वस्तुस्वरूप और मोक्षस्वरूप – स्वरूपकी यथार्थता यह है कि प्रत्येक द्रव्य उत्तराद्वय औद्वयम्बरूप है । जिस समय जो उनकी परिणामिति है उस समय वही परिणामिति है । तो दीपक है वह भी एक स्वरूप है और उसकी परिणामिति इस समय उजेले रूप है किर अंधेरेल दृष्ट हो जाती है । आत्मा है वह जानानन्दस्वरूप है । उसकी मुरिणति संसार अवस्थामें तुच्छ हो रही है, अल्पज्ञानरूप हो रही है । हमारे आत्माका जो जानानन्द स्वरूप है वह निकृत हो गया है । जब विकार हट गया तब मोक्षका स्वभाव क्या रह गया ? जैसा स्वभाव था वैसा ही पूरका पूरा रह गया, इसका नाम मोक्ष है । कहीं जानादिक गुणोंके उच्छेदका नाम मोक्ष नहीं है । जिन प्रभुको हम रोज

पूछते हैं, गुणस्मरण करते हैं, वया हम उन प्रभुको इस रूपमें निरखें कि वहाँ जान भी नहीं, आनन्द भी नहीं, सब गुण खतम हो गए। अवगुण खतम हो गए वह बात तो मान ली जा सकती है। और भक्त इसके माननेमें इकार नहीं करता। उसका उत्साह है ऐसा माननेमें कि प्रभु समस्त अवगुणरहित है, उनमें दुःख नहीं, इच्छा नहीं द्वेष नहीं, पुण्य-पाप नहीं, सांसारिक वासनाओंके संस्कार नहीं किन्तु उनके साथ ही साथ यह हठ करना युक्त नहीं कि यह भी मान लीजिये कि उनमें ज्ञान नहीं, उनमें आनन्द नहीं। यदि ज्ञानानन्दका आवाह मान लिया तो फिर आत्मा क्या रहा? तथा जो ऐसा जानेगा कि मैं आत्मा ज्ञानविहीन हो जाऊंगा, आनन्दविहीन हो जाऊंगा तो वह मोक्ष प्राप्त करनेका उद्दम ही क्या करेगा? मोक्षका स्वरूप ही है उत्कृष्ट ज्ञान और उत्कृष्ट आनन्द !

आप्तमीमांसामें संकटमुक्त आप्तकी मीमांसा—समंतभद्राचार्यने जब जिनेन्द्र भगवानकी स्तुति प्रारम्भ की आप्तमीमांसा स्वोतके रूपमें, उससे पहिले वे आप्तमीमांसाकी रचना कर चुके थे, उसके बाद जब युक्त्यनुशासन स्तोत्र रचने लगे और उस समय जब आचार्यने यह कहा कि भगवान अब हम आपकी स्तुति करते हैं तो कुछ लोग पूछ उठे कि ऐ समन्तभद्राचार्य! तुमने आप्तमीमांसाके रूपमें इतना बड़ा स्तोत्र रच लिया, पर आप अब कह रहे हों कि हे भगवान अब हम आपकी स्तुति प्रारम्भ करते हैं। तो आचार्य देव कहते हैं कि अभी तक हमने स्तुति न की थी बल्कि भगवानकी परीक्षा की थी कि जिन भगवानकी हम आप उपासना करते हैं उनका स्वरूप क्या है। उस परीक्षामें सब भूत मातातरोंका विवेचन आना ही पड़ा। आप्तमीमांसाका प्रारम्भ यों हुआ ये प्रभु इसलिए हमारे भगवान नहीं हैं कि ये आकाश में चलते हैं। अरे आकाशमें तो मायावी पुरुष देव आदि भी चल सकते हैं। ये प्रभु इसलिए भी हमारे भगवान नहीं हैं कि इनके ऊरर चमर ढुलते हैं, छत्र लगा हुआ है। ऐसा तो मायावी पुरुष भी करा सकते हैं। ये प्रभु इसलिए भी हमारे भगवान नहीं हैं कि उनके शरीरमें धातु उपधातु आदिकके कोई मल नहीं है, अरे ऐसे शरीर तो देव-गतिके जीवोंमें भी पाये जाते हैं। ये प्रभु इसलिए भी भगवान नहीं हैं कि इन्होंने एक घर्म (जैनवर्म) चलाया। अरे ऐसे तो श्रनेकों लोग हुए जिन्होंने घर्म चलाया। पर, वे प्रभु भगवान किस कारण बने, इसे सुनिए—

भगवान आप्तकी पूज्यताका, महत्ताका कारण—आप्तमीमांसामें समंत-भद्राचार्यने यह बात बतायी कि भगवान इसलिए पूज्य है, महान है कि उनमें रंच भी दोष नहीं रहे, और जो उनका ज्ञानस्वरूप है उसका वहाँ पूर्ण विकास हो गया। ये दो बातें हैं जिससे वे प्रभु हैं, भगवान हैं। तो अब यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कौसे तुमने जाना कि भगवानमें दोष नहीं रहे? तो इसमें अन्य भी युक्तियाँ हैं, पर जिस युक्ति पर यह आप्तमीमांसा ग्रन्थ रचा गया है उसकी बात कह रहे हैं। भगवान

में दोष रंच भी नहीं रहे, इसका प्रमाण यह है कि भगवानके वचनोंमें प्रब्रह्म प्रियो विवेचना की, जितना जो कुछ वर्णन है उस समस्त वर्णनमें कहीं दोष नहीं आता, ऐसे प्रभुके निर्दोष वचन , इससे यह सिद्ध है कि प्रभुमें दोष कुछ नहीं रहे । जैसे किसी व्यक्तिके जुखाम हो जाता है तो वह जो वचन बालता है उन वचनोंसे ही लोग पहिचान लेते हैं कि इसको जुखाम हो गया है ऐसे ही भूँकि प्रभुके वचन निर्दोष हैं उनके वचनोंकी निर्दोषताका हमें ज्ञान होता है इस कारण हम कह सकते हैं प्रभुमें कोई दोष नहीं है । और, जो दोषरहित है वही भगवान है सर्वज्ञ है । तो अब कुछ विवेचन है । तो अब कुछ विवेचन चलना चाहिए कि कैसे नहीं है उनकी वाणीमें दोष, तो उसके लिए दोषीक जो इतर वाणीमें थाते हैं उन्हें बताना चाहिए ना, तो वस उसमें बतमतातरोंका विवेचन हो गया ।

वचनोंकी निर्दोषता बनानेके लिए सदोष मन्त्रार्थोंके निरूपणकी अनिवार्यता —देखिए जिन लोगोंने पदार्थोंको नित्य कहा है उनके वचन सदोष हैं, सर्वथा नित्य पदार्थ होते ही नहीं, अर्थात् पदार्थ हो, उसमें भवस्था कुछ न हो, परिणामन भी कुछ न आये, ऐसा कभी ही नहीं सकता, पदार्थ ही न रहेये तो सर्वथा नित्यमें पदार्थत्व माननेका वचन सदोष है । यदि क्षण क्षणमें नया नया आत्मा बनता है, क्षण क्षणमें नये-नये परमाणु उत्पन्न होते हैं तो इसका सत्त्व ही नहीं रह सकता । तो असत् कहांसे आए ? जो सत् है उसका सर्वथा विनाश कैसे होगा और किर जब नये-नये ज्ञान है तो हमें खबर क्यों रहती है ? हमने कल अमुकको अमुक चौर दी थी उससे शब्द लेना है । अरे जिसको दिया था वह तो न लट हो मरा, अब यह दूधरा आत्मा है । तो इसकी खबर कैसे रहा करी है ? यों अनेक बातें दोषकी बतानी पड़ीं । बहुत विस्तार है । यहाँ तो संक्षेपमें प्रसङ्गवश यों कह रहे हैं कि सर्वथा नित्य एकान्तमेंभी अर्थक्रिया नहीं बनती और सर्वथा अनित्य एकान्तमें भी अर्थक्रिया नहीं बनती ।

संक्षरणमें प्रभुस्वरूपका और मोक्षस्वरूपका संपूर्ण निर्णय —जब समन्त-अद्रस्वामी सदोष वचनोंका विवेचन करके उसीके साथ निर्दोष वचन क्या है यह परीक्षासे जब सिद्ध कर लिया प्रपने आपमें कि है प्रभो, तुम ही एक निर्दोष हो, तुम ही एक उपाधनीय हो । तुम्हारा स्वरूप जो अनन्तशान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द इह है, उस ही स्वरूपका व्यानकर भव्यजीव संसारके संकटोंसे पार हो सकते हैं । जब यह निराय हो चुका तो इस निरायके बाद अब समन्तमद्वामी स्तवन कर रहे हैं । तो स्तवन करते हुएमें अपनी अशक्ति बताकर कह रहे हैं कि हे प्रभु ! भूम्भमें यह सामर्थ्य नहीं है कि आपके गुणोंका वर्णन कर सकूँ, वर्णोंकि गुण अनन्त हैं, उनका प्रतिपादन वचनोंसे असम्भव है । और, जो गुण समझमें आते हैं

ऐने दो चार गुणोंका भी वचनों द्वारा प्रतिपादन नहीं हो सकता । तो प्रभु आप अन तागुणवान हैं । आपकी यथार्थता बतानेमें हमारे वचन असमर्थ हैं किंतु सिफँ इतनी ही बात कहकर हम संतोष कर पाते हैं । उग्रादा विस्तार करनेकी बातका सामर्थ्य वचनोंमें नहीं ? इतना ही कहकर तृप्त होते हैं कि हे भगवान, आप ज्ञानकी परम-काष्ठा हो और आनन्दकी भी परमकाष्ठा हो, यह है आपका स्वरूप । अब देखो—इन स्वरूपमें कुछ भी नहीं रही, पूर्ण ज्ञान है, पूर्ण आनन्द है, इससे बढ़कर और गुण क्या बताया जाय । तो जहाँ पूर्ण ज्ञान और आनन्दका विकास है वह मोक्ष कहलाता है । ऐसा में क्या स्वरूप जानकर ही हम अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं कि श्रोतृ हे एवा पूर्णज्ञान होना, सर्व लोकके जाननहार रहना, रागद्वेष रचना रहना और आनन्दयथ बने रहना यही है जीवका विशुद्ध स्वरूप । इसी को कहते हैं मोक्ष, ऐसा स्वरूप जाननेपर ही मोक्षके लिए हम आप लोगोंका प्रयत्न हो सकता है, कहीं जू नाटिक गुणोंके उच्छेदका नाम मोक्ष है ऐसा जानकर मोक्षके लिए यत्न नहीं किया जा सकता ।

आत्माके कैवल्यकी मोक्षरूपता—मोक्षके स्वरूपकी बात चल रही है कि भीत कहते किसे हैं । मोक्षका शान्तिदाता अर्थ है छुटकारा पाना । संसारके संकटोंसे छुटकारा पानेका नाम है मोक्ष । संसारके संकट हैं राग शोक आदिक लेकिन उन संकटोंमें यूल संकट है जन्म और मरणका । जन्म मरणसे छुटकारा पानेका नाम मोक्ष है । जब जन्म मरणसे छुटकारा हो जाता है तो आत्मामें रहा क्या ? शरीरमें रहा नहीं क्योंकि जन्ममरण छूट गया । कर्म भी रहे नहीं क्योंकि जन्म मरणका कारण कर्म है । और जन्म मरण न रहा इस कारण जाना जाता है कि अब कारण नहीं रहा । तो कर्म भी नहीं रहे, शरीर भी नहीं रहा तो फिर रागद्वेष किसमें होंगे ? रागद्वेष होनेका कारण तो उपाधिका सम्बन्ध है । जब उपाधि न रही तो रागद्वेष कैसे होंगे । जब रागद्वेष भी नहीं, कर्म भी नहीं, शरीर भी नहीं, खालिस आत्मा ही आत्मा रह जाता है इसका नाम है मोक्ष ।

आत्माके गुणोंके उच्छेदकी असंभवता—इस प्रसङ्गमें एक विवाद यह चला था कि ज्ञानादिक गुणोंका भी आत्मासे निकल जाना इसका नाम है मोक्ष । जैसे कि शरीर निकल गया, कर्म निकल गए, रागद्वेष भाव निकल गए इसी प्रकार तुष्टि ज्ञान भी सतम हो जाय आत्मामेंसे, वह स्वरूप कहलाता है आत्माके मोक्षका । इसपर विचार चल रहा है । जैसे शरीर कर्म और रागादिक निकल गए इस तरह आत्माके ज्ञानादिक गुण नहीं निकलते । इसका कारण यह है कि आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूप है । यदि स्वरूपका उच्छेद हो जाय, स्वरूप नष्ट हो जाय तो पदार्थ ही न रहेगा । जैसे अग्निका स्वरूप है गर्मी । अगर गर्मी सतम हो जाय तो फिर अग्नि ही क्या रही ? कहीं ऐसी भी अग्नि मिलेगी क्या कि घघकती हुई अग्नि तो है पर उसमें

गर्भी नहीं है ? अग्निका स्वरूप ही गर्भी है तो स्वरूप निकल जानेपर फिर वह पदार्थ नहीं रह सकता इसी प्रकार आत्माका स्वरूप है ज्ञान । ज्ञानका अभाव हो जाय तो किर आत्माका सद्ग्राव नहीं रह सकता ।

शंकाकारके द्वारा दृष्टांतमें दिये गये प्रदीपादिक स्कंधोंके सर्वथा उच्छ्वेदका अभाव—इस प्रसंगमें शंकाकारने रोगादिक गुणोंके उच्छ्वेदको सिद्ध करने के लिए हेतु दिया था कि चूंकि ज्ञानकी परम्परा लग रही है, आत्मामें, एक ज्ञानके बाद दूसरा दूसरंके बाद तीसरा, इस तरह जब ज्ञानकी ओर लग गयी है, तो जिसकी डोर लगती है, जिसकी संतान होती है उसका कहीं खातमा ज़रूर होता है । जैसे दीपककी संतान है, एक दीपक जल रहा है, उसमें कम कमसे नए-नए दीपक ही तो जल रहे हैं, जब जो चूंद आकर दीपक बने वह नया नया दीपक है, तो जैसे दीपककी संतान बन जाया करती है इसी प्रकारसे आत्मामें ज्ञानली संतान चल रही है, और जो संतान होती है जिसकी संतान है तो उसका कहीं खातमा भी होता है । तो जैसे दीपककी संतान है और दीपक बुझ जाता है, मिट जाता है इसी प्रकार जब ज्ञानकी संतान है तो यह ज्ञानभी कहीं मिट जाता है, और ऐसा सिद्ध करनेमें दृष्टांत दिए गए हैं प्रदीप शब्द आदिकके । लेकिन दीपकका, शब्दका, विजली आदिकका सर्वथा अभाव नहीं होता । जो परमाणु स्कन्ध अभी विजली शब्द आदिकके रूपसे है वे परमाणुस्कंध कहीं नष्ट नहीं होते, वे अन्यरूप परिणाम जाते हैं । बिना उपादानके जैसे उत्पत्ति यहाँ देखी नहीं जाती वैसे ही उपादानसे कार्य होते रहेंगे । कोई सा भी कार्य ले लो, उसका कुछ न कुछ बजूद था तब काम हुआ । जैसे दीपक कोईसे बने । तेल बाती मात्रिस (अग्नि) वर्गेरहका सम्बन्ध किया, दीपक बन गया तो किन्तु पदार्थोंसे ही तो बना हुआ है जैसे बिना कुछ उपादानके उसमें कुछ कार्य नहीं बनता इसी प्रकार अब भी समझो कि जो उपादान है वह अग्नेके किसी कार्यको उत्पन्न करता ही रहता है । तो जिन स्कंधोंमें इस समय दीपककी उत्पत्ति हुई है उन स्कंधोंमें दीपक बुझलेपर धूंचा अन्धकार आदिक रूपसे परिणामे हुए उन परमाणुओंकी सत्ता न मिटेगी, वह और रूप परिणाम गया, क्योंकि जो भी सत है उसका स्वभाव है कि पूर्व पर्यायका त्याग करे और उत्तर पर्यायका पहण करे और उस सतमें भी उसकी स्थिति बनी रहे, उसका कहीं विनाश न हो । जैसे ये जीव हैं ना, हम आप जैसे आज भनुष्य पर्यायमें हैं । इससे पहले भी हम किसी पर्यायमें थे, तो उस पूर्वपर्यायका त्याग किया और इस पर्यायका पहण किया ।

आत्माका त्रै कालिक सत्त्व, परिणमनका सन्तान और गुणोच्छेदका अभाव—कोई कहेगा कि हमने तो देखा नहीं, हमें कुछ भालूमें नहीं, हम तो अभीसे हैं, पहले कुछ थे ही नहीं, तो यह बात यों नहीं बनती कि एक बात यह है कि जो था नहीं, सत् नहीं, वह कभी सत् हो ही नहीं सकता । अब यह व्यापमें लावो कि मैं

जीव आज ऐसी अशुद्ध अवस्थामें हैं, मनुष्य पर्याय रूपमें हैं। तो यह जो अशुद्ध अवस्था मेरी बनी ऐसा जो एक कुछ भी मैं हूँ, जो मैं सत हूँ है ऐसा तो ज्यानमें आता है। तो जो है, होता है वह उत्पादनसे ही रचा हुआ होता है, पर्यात कुछ न हो और हो जाय ऐसी किसी भी वस्तुकी बात नहीं है। जो भी चीज बनती है। तो मैं हूँ तो मैं पहिले भी था, जब इस शरीरमें आया उसके पहिले भी मैं था। तो मैं था अवश्य यह निर्णय हो जानेके बाद किरण यह विचारों कि वह मैं किस रूपमें हो सकता था। मैं केवल मैं ही होता, शुद्ध होता अशुद्ध न होता तो अशुद्धता मुझमें आ नहीं सकती थी। आजकी अशुद्धता यह प्रमाणित करती है कि हम इससे पहिले भी अशुद्ध भवमें थे। तो इससे पहिले भी थे उस पर्यायका तो वयथ हुआ और अब मनुष्य पर्यायका उत्पाद हुआ और दोनों पर्यायोंमें हम नहीं हैं जो पहिले थे वही आज है। तो उत्पाद वयथ ध्रीव्य ऐसा यहाँ देखा जा रहा है। ऐसे सब पदार्थोंमें उत्पादवयथ ध्रीव्यमय रूपता जाननी चाहिए। तो आत्मामें ज्ञानादिक जो गुण हैं वे मिट गए तो नए ज्ञान उत्पन्न हो गए। यहाँ संसार अवस्थामें होने वाले ज्ञानकी सुलना करके प्रभुके ज्ञानका उच्छेद करना यह बात युक्त नहीं है। यह तो माना जा सकता है कि हम आप लोगों के जैसे गडबड़ ज्ञान हो रहे हैं, ज्ञान होते हैं, मिटते हैं, दृश्यके कारण भी बन रहे हैं ऐसे ज्ञानोंका विकल्पोंका तो मोक्षमें सञ्चाव नहीं है, पर ज्ञानका जो काम है ज्ञानना वह कभी छूट नहीं सकता। किसी भी अवस्थामें कोई जीव हो, ज्ञानसे रहित कोई नहीं होता। प्रभु सिद्ध हो गए हैं तो उनमें शुद्ध ज्ञान चल रहा है। ज्ञानादिकगुणका उच्छेद नहीं है।

गुणोच्छेदके अभावका साधक अनुमान - अब तुम्हारे (शंकाकारके) द्वारा दिये गए अनुमानके विरोधमें एक अनुमान भी बनाया जा रहा है कि ज्ञानादिकका जो संतान है, ज्ञानोंका होते रहना है यह कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि उस प्रकारके नष्ट होनेका कोई प्रमाण नहीं पाया जा रहा। जैसे हम देखते हैं कि ये दृश्यमान पदार्थ स्कृष्ट हनमें रूपकी संतान चल रही, काला, पीला, नीला प्रादिक, तो कल्पनामें आता है क्या कि जरूर हसमें रूपकी संतान चली है तो तभी न कभी हस पुद्गलमें रूपका उच्छेद भी हो सकता है। इस पदार्थमें कितने ही रूप बदल गए, कितने ही बदलेंगे पर ऐसा समय तो कभी न आयगा कि इन पदार्थोंमें रूप न रहे। कुछ भी तो रहेगा। काला, पीला, नीला, सफेद आदिक कुछ भी न हो तो क्या होणा इस पुद्गलमें, इस पिण्डमें। यह कल्पना ही नहीं हो पाती है कि इसके रूपका कही विनाश है। संतान तो इसकी भी है। तो जिसकी परिपाठी है उसका विनाश हो यह नियम नहीं बनता।

गुणोच्छेदरूप मोक्षकी निहेंतुकता खंडकिसी प्रकार तुम्हारी हठ थोड़ी देखके स्वीकार भी करलें कि चलो संतानका उच्छेद हो जाता है पर यह बतलावों कि ऐसा मोक्ष होनेमें जहाँ ज्ञानादिक गुणोंकी संतान नहीं रहती उस मोक्षका कारण क्या

है ? जिना कारणके तो किसीका विनाश नहीं होता है । अगर ज्ञानादिक गुणोंका विनाश होता है ऐसा भोक्ष मानते हो तो बतलाओ ? कारण कुछ नहीं मिल सकेगा । शंकाकार कहता है कि है कारण । ज्ञानादिक गुणों का उच्छ्रेद हो जाता है उसका नाम संक्ष है और आत्मा ज्ञानहीन हो जाता है तो आत्माके ज्ञानके नष्ट होनेका कारण हम बतलाते हैं । उस भोक्षका कारण यह है कि उस जीवको तत्त्वज्ञान हुआ और वह तत्त्व ज्ञान पहिले तो विपरीत ज्ञानको हटाकर हुआ, फिर उस तत्त्वज्ञानमें कुछ और विशेषण आयी, यही तत्त्वज्ञान भोक्षका कारण बन जाता है और वह भोक्ष है गुणोंके उच्छ्रेद १४ । अब देखो कैसी बलहीन दलील है कि गुणोंके उच्छ्रेदका कारण, ज्ञानके विनाश नो जाने का कारण क्या है ? तत्त्वज्ञान । तत्त्वज्ञान हो तो उससे ज्ञानका नाश होगा । और ज्ञान का नाश होनेसे भोक्ष मान लिया गया । तो तत्त्वज्ञान हुआ और वह ज्ञान ज्ञानको नाश करने वाला बन गया यह बात किसी युक्तिमें आ सकती है क्या ? और, तत्त्वज्ञान जब भोक्षका कारण है तो वह तत्त्वज्ञान उपायेभूत हुआ । कोई परमार्थ बात हुई ? उस तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेके बाद फिर वह कैसे ज्ञानके उच्छ्रेदका हेतु रहा ?

गुणोच्छ्रेदवादमें तत्त्वज्ञान द्वारा विपर्ययज्ञानके उच्छ्रेदकी असिद्धि—खैर, मान लो कि तत्त्वज्ञान नुम्हारे कल्पित भोक्षका कारण है तो फिर तत्त्वज्ञानमें विपरीत ज्ञानको नाश करनेका सामर्थ्य है, यह तुमने कैसे निर्णय किया ? यदि कहो कि सम्यज्ञानमें ऐसी प्रकृति ही है कि मिथ्याज्ञानका विनाश करदे । जैसे पड़ी तो थी सीप और सन्देह हो गया कि यह सीप है या चांदी ? अथवा विपर्यय ज्ञान हो गया कि यह तो कोरी सीप है । तो जैसे सीप है ऐसा सम्यज्ञान हुआ, तो उससे विपरीत ज्ञान का जिनाश हो गयो ना । तब ऐसा ही समझना चाहिए कि जिस जीवको तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है उसको जो विपर्यय ज्ञान पहिले लदा हुआ था संसारकी पर्यायिको आत्मा माननेका या ज्ञानगुणोंकी ही आत्मा माननेका जो कुछ विपर्यय भाव लगा था उसका उच्छ्रेद हो जाता है । शङ्काकारकी इस युक्तिपर प्रश्न उठता है कि जैसे सीप चांदीके विषयके परिज्ञानमें जो पीछे ज्ञान हुआ है उसको बताते हो कि पिछले ज्ञानके हटनेका कारण है तो हम भी तो कह सकते कि मिथ्याज्ञानसे सम्यज्ञान भी नष्ट होता है । जैसे सम्यज्ञानसे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है इसी तरह मिथ्यज्ञानसे सम्यज्ञान नष्ट होता है । सम्यज्ञान और मिथ्याज्ञान ये तो परस्पर विरोधी हैं । सम्यज्ञान होगा तो मिथ्याज्ञान नहीं रह सकता, मिथ्याज्ञान होगा तो सम्यज्ञान नहीं रह सकता जैसे—तत्त्वज्ञानके द्वारा विपर्ययज्ञानका उच्छ्रेद बताते हो इसी प्रकार मिथ्याज्ञानके द्वारा सम्यज्ञानका भी उच्छ्रेद जानो ।

तत्त्वज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञानकी संतानके उच्छ्रेदका प्रस्ताव—शंकाकार कहता है कि हमारा अभिग्राय यह नहीं है कि सम्यज्ञानके द्वारा मिथ्याज्ञानका उच्छ्रेद

होता है और मिथ्याज्ञानके द्वारा सम्यग्यानका उच्छेद होता है, किन्तु हम तो ज्ञानके संतानके उच्छेदकी बात कह रहे हैं। सम्यग्ज्ञान होनेसे मिथ्याज्ञानकी जो परम्परा लगी हुई थी उसका विनाश हो जाता है। जैसे जो देह त्रै सो में हूँ ऐसा जो मिथ्याज्ञान अनादिसे लग रहा है और उसकी परिपाटी चल रही है उस मिथ्याज्ञानकी संतानका विनाश तत्त्वज्ञानसे हुआ। ऐसी बात यहाँ नहीं लगा सकते कि यों सम्यग्ज्ञानकी परम्परा चल उठे तो उस संतान ना मिथ्याज्ञान विनाश कर देगा। सम्यग्ज्ञान है सत्यबात और मिथ्याज्ञान है विपरीत। सत्यबात बलवान होती है। बलवानके द्वारा निर्बलका संतान हो मिटायो जा सकता है, निर्बलके द्वारा बलवानकी संतान नहीं मिटाई जा सकती है। तो यह बात मिथ्या हो जाती है कि मिथ्याज्ञानकी जो संतति चल रही है वह सम्यग्ज्ञान के द्वारा नष्ट कर दी जाती है। जब मिथ्याज्ञान दूर हुआ तो किर रागादिक भी दूर हो गये, और जब रागादिक न रहे, कारण न रहा तो रागका काम था मन, वचन, कायकी चेष्टामें होना तो रागके न होनेसे मन वचन कायकी चेष्टायें भी समाप्त हो गई मन, वचन, कायकी चेष्टायें दूर होनेसे तत्त्वज्ञान हो गया, और उस तत्त्वज्ञानके होनेसे मिथ्याज्ञान दूर हो गया, अब धर्म अधर्म आदिक भी उत्पन्न नहीं हो सकते। तो यों धर्म अधर्म जब न उत्पन्न हुए पुण्यपाप जब न इसके उत्पन्न हों तब उनका मोक्ष होता है। तो इस शोलमें धर्म अधर्म नहीं रहते सुख दुःख भी नहीं रहते, इच्छा ह्रेष भी नहीं रहते और ज्ञान भी नहीं रहता, समस्त गुणोंका उच्छेद हो जाता है।

तत्त्वज्ञान द्वारा विपर्ययताका उच्छेद होनेपर भी ज्ञानगुणके उच्छेदकी सिद्धिका अभाव—देखिये ! शङ्काकारके इस कथनमें कुछ कथन तो भले लगते हैं, पर जहाँ एक किया हुआ पक्ष जब सामने आता है कि गुणके अभावका नाम मोक्ष है, तब यह कही हुई सच्ची बात भी फ़ीको पड़ जाती है। क्या यह ब त ठीक नहीं है कि जब तत्त्वज्ञान होता है तो मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है ? सब कोई मान लेंगे कि जब मिथ्याज्ञान दूर हुआ तो रागादिक भाव भी दूर होने लगते हैं यह बात भी तो सही है। जब राग भाव दूर हो जाता है तो मन, वचन कायकी चेष्टायें भी समाप्त होती हैं। यह भी ठीक है। और जब मन, वचन, कायका योग समाप्त हो गया तो वहाँ न न पुण्यका आश्रय हुआ न पाएका। पर इस सबके कहनेका उद्देश्य क्या है शङ्काकार का कि जहाँ पुण्य-पाप, सुख-दुःख ज्ञान आदिक सब गुण समाप्त हो जायें, केवल आत्मा रहे, केवल चिन्मात्र रहे। जहाँ परिणति कुछ नहीं उसका नाम मोक्ष है। जहाँ यह बात सामने रखी कि अब जो बात तत्त्वज्ञान आदिककी कही वह भी खण्डित करने योग्य बन जाती है।

तत्त्वज्ञानद्वारा विपरीतताका उच्छेद और ज्ञानादिगुणोंका पूर्णविकास तत्त्वज्ञान विपरीत ज्ञानके हटनेके क्रमसे बढ़कर मोक्षका हेतु बनता है अर्थात् तत्त्वज्ञान से ही तो विपरीत ज्ञान हटा, उसके हटनेमें रागादिक हटे, रागादिकके हटनेसे धर्म

अवर्यं आदिक हटे, उनके हटनेसे किर मोक्ष होता है। इस प्रकार तत्वज्ञान उस गुणोच्छेदरूप मोक्षका कारण है यह कहना अशुक्त है। उस तत्वज्ञानसे यद्यपि निःर्यथ ज्ञान तो हट जाता है, वर्यं अत्रम् पुण्य पाप ये भी हट जाते हैं, पुण्याग्रके के वयशूत शरीरादिक भी इट जाते हैं पर इन्ही उपाधियां हट जानेपर भी अनन्त अनन्दित्रय समस्त पदार्थोंको विश्व करने वाला ज्ञान हट जाय यह सिद्ध न होगा। तत्वज्ञानसे विश्वरीतायें, सब उल्टी बातें, सब हट गयीं, यहां तक तो कथन ठीक है, पर ज्ञानादिक गुण भी हट गए यह कैसे सिद्ध होगा? तत्वज्ञानसे तो ज्ञानादिक गुणोंका परिरूपण विकास हो जाता है। तत्वज्ञानका प्रकाश इन अवगुणोंसे हटा रहे, किर कहीं वह प्रकाश भी बुझ जाय इसका नाम है, यह तो तत्वज्ञानसे विपरीत बात हो जाएगी। इसी बातार आनन्दकी संतान भी नहीं हटती। ऐसा तत्वज्ञान कौन उत्तराजन करेगा जो आनन्दको भी मिटा दे? किसीसे कहा जाय कि तुम एक उत्तर करो, जैसे तुम्हारा आनन्द खत्म हो जाय वह उत्तर करो। तो इस बातको कोई सुनना भी नहीं पसद करता, उत्तर करो! यही बात तुमने मोक्षके स्वरूपमें बता दी। ऐसा मोक्ष उत्पन्न करो जहां ज्ञान नहीं रहे। ऐसे मोक्षके लिए कौन प्रयत्न करे? हाँ यह बात तो युक्त है कि संसारी जीवोंने जिन विशेषोंके सुखको सुख मान रखा है, खाना, पीना, देखना सुनना, भनके विकल्प बढ़ना यश नाम आदिककी बात सोचना, इनमें जो सुख मान रखा है यह सुख नहीं रहता मोक्षमें। कलेत सुख विश्वामुख है, यह तो नहीं रहता किन्तु सहज अनन्त जो वहां आन द है, जो आत्माका स्वरूप है वह भी समाप्त हो जाय यह बात नहीं जमती। तो तत्वज्ञानसे ये सब ज्ञायोजनामिक ज्ञान, सराग ज्ञान भी मिट जायें, यह भी मंजूर है, ये काल्पनिक संसारके सुख भी समाप्त हो जायें यह भी स्वीकार है, पर इन सबके मिट जानेपर ज्ञानस्वरूप मिट जाता है यह बात स्वीकार नहीं हो सकती।

ज्ञानके स्वरूपके अपरिचयमें ही ज्ञानोच्छेदरूप मोक्षकी कल्पना — कोई पुरुष यदि मोक्षमें ज्ञानका अवाव स्वीकार करे तो उसका अर्थ यह है कि उसने ज्ञानका स्वरूप नहीं समझ पाया। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञ.न हुआ बस उसे ही समझ पाया। जो कानोंसे सुनकर, आंखोंसे देखकर, नाक रसना, इन्द्रिय आदिकसे ज्ञानकर समझा इतना ही ज्ञान समझा, इ के आगे ज्ञान और कुछ नहीं है ऐसा जिसका भाव हो, ज्ञान हो, सो ज्ञानके स्वरूपको न समझता ही वही यह मान सकता है कि जहां यह ज्ञान खत्म हो जायगा उसका नाम मःक्ष है क्योंकि इन ज्ञानोंमें बड़ा दुःख भरा है। कहीं लाख दो लाखका टोटा पड़ गया है इस प्रकारकी बात ज्ञानमें आयी तो कह दुःख हो गया। कहीं चाहे २ भालुका लाभ हुआ हो और तारमें ऐसा कुछ पढ़नेमें आ जाय कि २ लाखकी हानि हुई तो उम्ह ज्ञानके होनेसे कितना दुःख होता है। तो दुःखका कारण उन्होंने ज्ञान समझा है। ज्ञान न हो तो ये सब दुःख मिट

जायेंगे ऐसा समझा है पर यह नहीं जान सके कि आत्माका स्वरूप फिर है क्या ? केवल चिन्मात्र कहनेसे आत्माके स्वरूपकी व्यवस्था नहीं बनती । चिन्मात्र मायने चेतता । अब वह चेतना क्या स्वरूप रखती है उस चेतनाका भाव क्या है उस चेतनामें आता क्या है जरा स्वरूपपर दृष्टि दो तो इतना तो मालूम ही पड़ेगा । और, प्रतिभासके मायने ही जानना है ।

लौकिक ज्ञानमें सरागताके कारण व्यावहारिकना भैया ! यह जो ज्ञानका ऐसा मोटा रूप बन गया है सो वह केवल प्रतिभासमात्र नहीं है इसलिए मोटारूप दिख रहा है एक दूसरेकी फट समझमें शा जाता है । उस ज्ञानके साथ राग लगा है, विकल्प विचार लगे हैं और इस कारण उनके कुछ समझमें लायक मूर्त्तरूप बन गया है, परन्तु ज्ञानका सत्यस्वरूप क्या है ? केवल जाननहार । जोननहारकी अवस्था है, जिसमें वस्तु पकड़ी नहीं जाती, उसमें स्नेह नहीं रहता, उसमें विकल्प नहीं रहता । केवल जाननहार । जैसे आप मार्गसे चले जा रहे हैं, बीसों आदमी आपको दिखते हैं जिनको कभी देखा ही नहीं, जिनसे कुछ मतलब ही नहीं, उनमें आपका चित्त नहीं अटकता और सामनेसे कोई घरका आदमी या मित्र या रिश्तेदार आता हुआ दिख जाय तो उसमें आपका चित्त फट अटक जाता है । तो जहाँ आपका चित्त अटकता नहीं वह तो है जाननका शुद्ध रूप और जहाँ आपका चित्त अटक जाता है वह है जाननका अशुद्ध रूप । वहाँ सिरफ़ ज्ञान ही ज्ञान नहीं है । रागादिक भावके मिलापसे ज्ञानका वह रूप बना है । ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है । ज्ञान न रहे तो आत्मा क्या रहा ?

ज्ञानस्वरूपके परिचयका प्रयत्न—अब भी आप परख लो । जब आप अपने आत्माको जानना चाहें तो क्या उपाय करना चाहिए । आत्मासे अतिरिक्त अन्य जितने पदार्थ हैं उन पदार्थोंका समागम मेरी भलाईका कारण नहीं है, इतना तो मोटा निर्णय सबका हो सकता है । आप ही विचारें जिस घरमें जिस परिवारके साथ आप रह रहे हैं, जिन प्राहोंके बीच आप बैठा करते हैं वे सभी समागम आपकी शान्तिके कारण होते हैं या अशान्तिके ? उनसे आपको कुछ आत्माका लाभ मिलता है क्या ? वे भव समागम छोड़ जाने पड़ेंगे । वे कोई भी समागम इस जीवकी मदद न कर सकेंगे । यहाँसे मरण ही जानेके बाद नया शरीर धारण करना पड़ेगा, नया समागम होगा, फिर वही नये दृग्से ज्ञान चलेगा, वहाँपर पिछले भवका कोई समागम मदद न कर सकेगा । तो इतना निर्णय होना चाहिए कि यहाँके कोई भी समागम मेरे हितरूप नहीं हैं । अतः उन समरत समागमोंसे उपेक्षा होनी चाहिए । उन समागमोंका विकल्प करते करते थक गए, अब तो कुछ उनके विकल्पोंसे विश्राम लेना चाहिए । किसी भी पर पदार्थकी बात सोचनेमें न आए ऐसे संकल्पपूर्वक बैठे तो अनंदर ही अन्दर जो ज्ञानप्रकाश है वह भीतर ही भीतर प्रवेश करके एक ज्ञानस्वरूपकी जानेगा ।

यह आप स्वयं भी अनुभव कर सकते हैं। आत्मा का स्वरूप ज्ञान है, उसका ज्ञानना कैसे कूटेगा? सब कुछ भी नहीं ज्ञान छूट जायें मगर ज्ञानस्वरूप ज्ञानकी भक्ति, ज्ञानका प्रकाश ये कभी भी नहीं छूट सकते हैं, इससे ज्ञानके अभावका नाम मोक्ष नहीं है किन्तु ज्ञानके साथ जो रागादिक विकार लग रहे थे उनका खात्मा हो जाना और ज्ञानका विकास हो जाना इसका नाम मोक्ष है। तो मोक्ष ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनन्द इन चतुष्टयोंकी ही कहाँ हैं।

इन्द्रियोंके बिना ज्ञानमत्तान संभव होनेसे आत्माकी ज्ञानप्रयत्नकी सिद्धिमें बाधाका अभाव—शरीरके अलग होनेपर मोक्ष होता है इतनी बात तो सर्वसम्मत है, इसमें किसीको भ्रम नहीं। मोक्षमें ज्ञानादिक गुणोंका विनाश हो जाता है इसमें विसंवाद है। इस अपका कारण यह भी हो सकता है कि जब शरीर न रहा तो तो इन्द्रिय भी न रहीं, अब वह ज्ञान किसके द्वारा करं जो पुरुष इन्द्रियके द्वारा ही ज्ञानका विकास समझते हैं वे इन्द्रियके बिना ज्ञानकी असम्भवता ज्ञानकर मोक्ष अवस्थामें ज्ञानगुणका विनाश मान सकते हैं, लेकिन यह भ्रम रखना भ्रम ही है। इन्द्रिय के नष्ट होनेपर भी ज्ञानादिक गुणोंकी सत्ता बराबर चलती रहती है इसका कारण यह है कि ज्ञानका अविनाभाव इन्द्रियके साथ नहीं है। ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है। ज्ञान तो आत्माके साथ ही अनादिसे है अनन्तकाल तक रहेगा। अथवा वहाँ दो बातें ही नहीं कि ज्ञान कोई अलग सत् हो आत्मा अलग सत् हो। आत्मा ही ज्ञानमय है। तो इन्द्रियके विनष्ट होनेपर ज्ञान बराबर बना रहता है। ज्ञानकी साधक इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो बलिक ज्ञानकी बाधक समझना चाहिए। जैसे कोई पुरुष किसी मकानके भीतर बैठा हो, खिड़कियोंमेंसे बाहरकी बात देखे तो देखने वाली खिड़कियाँ हैं? देखने वाला तो पुरुष है। उस बन्धनकी अवस्थामें अर्थात् मकानके अन्दर वह पड़ा हुआ है इस बन्धनके कारण उसे इस समय खिड़कियोंके द्वारसे ही देखेकी बात आती है। खिड़कियाँ देखनेका साधन नहीं वह तो बन्धन वाली बात है। देखनेका साधन तो उस पुरुषकी आँख ही स्वय है। वे खिड़कियाँ तो बलिक देखनेमें बाधक हैं। यदि खिड़कियाँ न होतीं, भीटका आवरण न होता तो वह पुरुष चारों ओरसे निरख सकता था, इसी प्रकार ज्ञानमय यह आत्मा शरीरके महलमें पड़ा हुआ है, अब शरीर की ये दीवालें चारों तरफ हैं, ऐसी स्थितिमें यह आत्मा इन इन्द्रियके द्वारसे इन खिड़कियोंसे देख सकता है, बाहरकी बात जान सकता है, पर देखने जाने वाली ये इन्द्रियाँ नहीं हैं, यह आत्मा ही है। ये इन्द्रियाँ तो बलिक देखने जाननेमें बाधक हैं। यदि शरीर न होता, ये इन्द्रिय न होती तो यह आत्मा जो चारों ओरसे जानता।

शरीरप्रीतिका कारण इन्द्रियज ज्ञान व सुखमें अपना ज्ञान व सुख माननेका भ्रम—इस शरीरसे बहुत बड़ी प्रीति हो जानेका कारण एक यह भी हो सकता है कि दूँकि इस अवस्थामें इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञान करना सब

को प्रिय है, इन्द्रियोंके द्वारा ही सुखका अनुभव होता है, सुख भी सब चाहते हैं तो इस हालतमें ज्ञान और सुखका साधन इंद्रियोंको मान रहे हैं तो इंद्रिय और ज्ञानके साथनोंहो सुरक्षित रखनेका ख्याल उनके मनमें आएगा ही। परन्तु जब यह विदित हो जाय कि ये इंद्रियाँ हमारे ज्ञान और आनन्दमें साधक नहीं बल्कि बाधक हैं तो इतना ज्ञान होनेपर फिर उसे इंद्रिय ज्ञानोंसे, इन इंद्रिय सुखोंसे प्रीति नहीं रहेगी। जैसे किसी नावालिंग बच्चेकी करोड़ों रुपयेकी सम्पत्तिपर गवर्नर्मेंटने कोर्ट कर रखा हा और ?०००) मासिक उसके लच्चेके लिए दे रही हो तो जब तक वह बच्चा बालिंग नहीं बनता है तब तक तो वह सरकारके गुण गाता है, पर जब उसे यह सही ज्ञान हो जाता है कि अरे भेरी करोड़ों रुपयोंकी सम्पत्तिको सरकारने कोर्ट कर रखा है तो अब उसे ?०००) मासिकमें प्रीति नहीं रहती। वह तो सरकारको नोटिस दे देता है कि मुझे नहीं चाहिए ये ?०००) मासिक मुझे तो भेरी करोड़ों रुपयोंकी सम्पत्ति दी जाय। इसी प्रकार ये संसारी नावालिंग अनज्ञान प्राप्ती इन इंद्रिय ज्ञानों के इंद्रिय सुखोंके गुण गाते हैं, पर जब सही ज्ञान बन जाता है कि ओह ! इन इंद्रिय ज्ञानों, इंद्रिय सुखोंको नोटिस दे देता है अर्थात् इन समस्त इंद्रिय विषयोंका परिस्थाग कर देता है और अनें अनन्त आनन्दकी विभूतिको प्राप्त कर लेता है। तो इन इंद्रिय जन्य ज्ञानोंसे व सुखोंसे प्रीतिकरके मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता। मुक्तिके मार्गसे चलनेपर ये शरीर इंद्रिय आदिके आवारण सब हट जाते हैं पर जाननहार जो अपना आत्मस्वरूप है जो ज्ञान है वह बराबर रहता है। इन इंद्रियोंके नष्ट होनेपर ज्ञान की सन्तान नष्ट नहीं होती। इस कारण यह अप भरी बात मत मानो कि मुक्त होने पर आत्मामें ज्ञानादिक गुण नहीं रहते।

अतीन्द्रिय ज्ञानकी सिद्धिकी सफलता—शङ्काकारसे कहा जा रहा है कि यदि तुम अतोन्द्रिय ज्ञन नहीं मानते तो फिर तुम्हारे महेश्वरमें ज्ञानका सङ्काव कैसे रहेगा ? यहाँ थोड़ा शङ्काकारका सिद्धान्त समझ लीजिये। इनके सिद्धान्तमें जगतकी व्यवस्था इस प्रकार है कि कोई एक महेश्वर अनादिमुक्त है, वह समस्त जगतको जानता है और इसी कारण वह जगतकी सृष्टि रचता है। सृष्टिके रचनेमें जीव रचे और भौतिक पदार्थ ये सब रचे। रचनेके बाद अब ज्ञानादिक गुण उत्पन्न हुए, उनका हुआ आत्मामें सम्बन्ध, अब ये विकल्प करने लगे। इनमें ज्ञानादिक विषयादिक लग गए ना। अब यह जीव तत्त्वज्ञान करता है तो इसे मोक्ष प्राप्त होता है। वहाँ शरीर नहीं रहता, ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार ज्ञानादिकके उच्छ्रेदसे उन्हें मोक्ष होता है। तो दो तरहके मुक्त हुए एक अनादिमुक्त और एक कर्ममुक्त। तो महेश्वर अनादिमुक्त और ये अनन्त योगी जीव कर्ममुक्त हुए। ऐसा सिद्धान्त है उन शङ्का करने वालोंको। तो उनसे पूछा जा रहा है कि अतीन्द्रिय ज्ञान तो तुमने भी माना, चाहे महेश्वरमें ही माना सही, तो यह तो निश्चित हो गया कि शरीर न रहनेपर भी ज्ञान रहता है। यह भी नहीं कह सकते कि ईश्वरका ज्ञान नित्य है उनका ज्ञान तो सदासे चला आया

है। यदि नित्य है ज्ञान तो उसमें फिर किया नहीं हो सकती। तो जैसे अनन्त ज्ञान वाला महेश्वर है इसी तरह कर्मयुक्त आत्माका भी ज्ञान रहना चाहिए क्योंकि शरीर के बिना भी तो तुमने ज्ञान माना है। यदि स्वभाव नष्ट हो जाय तो बड़ी अव्यवस्था हो जायगी। हम कहेंगे कि देखो! यह है हमारे हाथपर घड़ा। . . . और कहाँ है घड़ा? घड़ा होता तो उसका आकार, उसका वर्म भी तो होता। और वर्मके बिना भी पदार्थ रहने लगा शङ्खाकारके मतमें। देखो ज्ञानके बिना भी आत्मा रहता है यों अटपट कितनी ही बातें कही जा सकती हैं फिर तो कोई वस्तुकी व्यवस्था न रहेगी।

फलोपभोगके बिना कर्मप्रक्षयका अभाव माननेका ऐकान्तिक रुग्णाल-विशेषज्ञातीके सिद्धान्तसे ये जीव यह शरीर ही मैं हूँ, यह ज्ञान मैं हूँ, इस मिथ्याज्ञान से जन्म भरण करते हैं, कर्मफल भोगते हैं। जब उन्हें तत्त्वज्ञान हो जाता है तो उनका मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है। मिथ्याज्ञानके दूर होनेसे रागादिक दूर हुए और रागादिक दूर होनेसे मन वचन कोयकी प्रवृत्तियाँ भी नष्ट हुईं। और उन प्रवृत्तियोंके नष्ट होनेसे वर्म अधर्म पुण्य पाप आदिक नष्ट हुए। अब आगे पुण्य पाप न बढ़ेंगे। तो उनसे समाधानके लिए पूछा जा रहा है कि यह तो बतलावो कि आगेके लिए पुण्य-पाप तो न बढ़ेंगे, पर वर्तमानमें जो करोड़ों कल्पकालके लिए कर्म बढ़े हैं और करोड़ों कल्पकाल तक बढ़े रह भी सकते हैं तो उनका क्षय कैसे होगा? इसके उत्तरमें शङ्खाकार कह रहो है। कि जिन कर्मोंने अपना काम शुरू कर दिया है, शरीरका मिलना, इन्द्रियोंका लिना आदिक जो भी कार्य उन कर्मोंका है वे साधन मिल गए तो सुख दुःखके भोगनेसे ही उनके कर्म दूर हो सकते हैं। और, जो कर्म कभी सत्तामें भीजूद है, वे कर्म भी अपना फल देकर नष्ट होंगे। कर्म जो होते हैं वे फल दिये बिना नष्ट नहीं हो सकते, यह शङ्खाकारका सिद्धान्त है। कितना ही तत्त्वज्ञान हो जाय, तत्त्वज्ञान होनेसे आगामी कर्म न बढ़ेंगे, मगर जो कर्म बंध चुके हैं वे तो अपना फल देकर ही दूर हो सकेंगे उनका फल भोग बिना वे कर्म दूर नहीं होते। इस विषयमें शङ्खाकार आगमका भी प्रमाण दे सकता है जैसेकि उचके अभिभृत ग्रन्थोंमें लिखा है "सैकड़ों करोड़ों कल्प व्यतीत हो जायें तो भी बंध हुए कर्म बिना भोगे नहीं खिरते हैं।" शङ्खाकारका यह सिद्धान्त है कि आगामी कर्मोंका आना बन्द होनेपर भी जो कर्म सत्तामें पड़े हैं वे तो फल देकर ही खिरेंगे।

उत्तम अन्तरात्माओंके फलोपभोगके बिना भी कर्मप्रक्षयकी मिद्दि— अब इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि तुम्हारा यह कहना युक्त नहीं है कि जिस कर्मने अपने कार्यका प्रारम्भ कर दिया है वह कर्म भी उपभोगसे ही दूर होता है और जिसने काम शुरू नहीं किया है, सत्तामें है वह कर्म भी फलके उपभोगसे ही नष्ट होता है, यह बात क्यों युक्त नहीं है कि यदि कर्म फल देकर ही नष्ट होते हैं तो कर्मोंके फलके समयमें मन, वचन, कार्यकी वेष्टा ती है ना, अन्यथा फल नाम किसका है? मन न

बिंगड़े, बचन न बिंगड़े, काय न बिंगड़े, इनकी चेष्टा न हो तो फल नाम किसका है ? यदि फल देकर कर्म भट्ठते हैं तो फलमें हुई मन, बचन, कायकी उद्वत्ति, और मन, बचन, कायकी प्रवृत्तिसे बँधता है कर्म । जब उसमें नवीन कर्म और बँध गये तो किर उनका क्षम के से होगा ? वह तो कर्मोंकी परम्परा बलती ही जायगी । वास्तविकता तो यह है कि कर्मोंका फल भोगनेसे भी कर्म दूर होते हैं और बिना फल भोगे भी ज्ञान आराधनाके बलसे, परम ध्यानके प्रतापसे अनेक कर्म फल भोगे बिना भी लिराये जा सकते हैं । यह कहना ठीक नहीं कि चाहे कितना ही तत्त्वज्ञानी हो उसके भी कर्म फल देकर ही दूर होंगे और कर्मका कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं है कि फल दिये बिना दूर हो सके । अरे, चरणानुसारी सम्यग्ज्ञानमें तो वह सब सामर्थ्य पड़ी है कि उससे ही कर्मोंका निरोध होता है और उनसे कर्मोंका प्रक्षय होता है । जैसे सम्यग्ज्ञान हो कर मिथ्यज्ञान नहीं रहता । सम्यग्ज्ञानके बलसे मिथ्यज्ञान दूर हो जाता है । तो उसी सम्यग्ज्ञानमें जब वह योग दूर हुए, अन्तरङ्ग विकल्प दूर हुए, सम्यग्ज्ञानकी स्थिरता बढ़ी, चारित्र बढ़ा, तो उस समय उसका ज्ञान भी है, सम्प्रक्षिप्त चारित्र भी है, तो उस समय सम्यग्ज्ञानमें जो कि परमार्थ चारित्रसे युक्त है उसमें कर्म न आने देनेकी भी सामर्थ्य और कर्मोंका क्षम करनेकी भी सामर्थ्य है । जैसे गर्भीका सर्व है । बड़ी ठंड बढ़ रही हो और वहां अंगीठी या हीटर रख दिया, बहुत तेज कोई गर्भीका साधन रख दिया तो उस गर्भीके सर्वमें दोनों ही सामर्थ्य हैं—निकट भविष्यमें भी शोतको न आने दे और वर्तमान शोतको भी नष्ट कर दे । तो जैसे उस उष्णसर्वमें दोनों ही सामर्थ्य हैं इसी प्रकार इस चारित्रयुक्त सम्यग्ज्ञानमें, ये दोनों ही सामर्थ्य हैं कि आगामी कालमें बवते वाले कर्म भी न आयें और पूर्ववद्ध कर्मोंको भी लिरा दे ।

अनेकान्तवादमें ही सम्यग्ज्ञानसे कर्मोच्छेदकी सिद्धि—सम्यग्ज्ञानसे कर्मनुत्तिकी बात मुनकर शङ्खाकार कहता है कि इसमें एक बात । तो तुमने हमारी ही कह दी कि तत्त्वज्ञानमें यह सामर्थ्य है कि भविष्यमें कर्म नहीं बंधते, वर्त्म अधर्मकी उद्वत्ति नहीं होती । आचार्य कहते हैं कि तुम तो यह भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि यह बात वहां ही सिद्ध हो सकती है कि जहां जीव और अजीव पदार्थमें नित्य और अनित्यपनेका यथार्थ ज्ञान हो जाय । पदार्थ द्रव्यदृष्टिसे नित्य है पर्याय-दृष्टिसे अनित्य है । जीव सदा रहेगा ना, वह हुआ द्रव्य और जीव कभी मनुष्य होता, तिर्यञ्चक होता, नारक आदिक होता, कभी कोधी बनता, मानी बनता, मायावी बनता लोभी बनता, इस तरहके अनेक भेद हैं, तो देखो पर्यायदृष्टिसे अनित्य हुआ जीव । जीव किसी भी एक अवस्थारूप बनकर नहीं रह सकता । यही तो अनित्यपनेकी बात है । तो जहां कथचित् नित्य कथचित् अनित्य रूप प्रतिपादन है वहां ही सम्यग्ज्ञान बन सकता है । पहले तुम सत्यज्ञानकी सिद्धि कर लो पीछे सम्भरकी बात कहना । एकांत नित्य तुम्हारा कलिगत आत्म पदार्थ है, उसमें कुछ बिगड़ तो है नहीं । उस ही की ओज, उस ही की परिणति कभी आए कभी न रहे, यह बात एकांत नित्यमें तो बन

नहीं सकती, तो फिर वहाँ फल ही क्या कर्म भी क्या, कर्मका कारण भी क्या ? कुछ भी सम्भव नहीं है। उसका न संसार बन्धन न मोक्ष। यदि अनित्य ही अनित्य सर्वथा माना जाय तो वहाँ भी कोई व्यवस्था नहीं बनती। जो विपरीत अर्थका ग्रहण करने वाला ज्ञान है क्या वह तत्त्वज्ञान हो सकता है ? और, विपरीत पदार्थको जानने वाले ज्ञानमें क्या यह सामर्थ्य है कि आगामी कर्म भी ऐ आयें ? ये सब बातें एक सम्यज्ञानमें ही घटित हो सकती हैं मिथ्याज्ञानमें नहीं। जिसे शङ्काकार तत्त्वज्ञान कह रहा है वह तो मिथ्याज्ञान है उत्पादव्यय ध्रीवयात्मक वस्तुके यथार्थस्वरूपका सम्यग्ज्ञान हो और उस सम्यज्ञानकी स्थिरता हो कि यह आत्मा आने आत्मामें ही रम जाय ऐसा परम ध्यान बने तो उसमें यह सामर्थ्य है कि आगामी कर्मोंका बन्ध भी न हो और पूर्वसंचित कर्मोंका क्षय भी हो जाय। पर इस विशेषवादमें चूंकि फलके भोगनेको ही कर्मका क्षय माना गया है, तो जब फलका भोग होगा उस समय मन, वचन, कायकी चेष्टायें होंगी, रागद्वेष होंगे, सुख-दुःख होंगे, तो फिर उन परिणामोंसे कर्म बंधेंगे तो कैसे क्षय जलदी हो जायगा ? परम्परा हो जानेसे क्षय होगा भी नहीं।

समाधिवलसे भावी समस्त शरीरोंका एक ही भवमें धारण व फलो-पभोगका पक्ष—शङ्काकार कह रहा है कि देहों कर्म जितने भी होते हैं वे तत्त्वज्ञानी के हों या मिथ्याज्ञानीके हों, कर्मोंका स्वभाव ही ऐसा है कि वे फल दिये बिना खिर ही नहीं सकते। यह शङ्का करना व्यर्थ है कि फिर तो परम्परा हो जानेसे कभी मोक्ष ही न होगा। बड़ा लम्बा समय लग जायगा और उसमें भी वह भीगोंमें नवीनकर्मोंका बन्ध करेगा यह शङ्का करना यों युक्त नहीं है (शङ्काकार अपने सिद्धान्तसे कह रहा है) कि जिस समय तत्त्वज्ञानी पुरुषको समाधिप्राप्त होती है तो उस समाधिके बलसे जिसके तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है उसने समझ ली न कर्मोंकी सामर्थ्य, कर्म फल दिए बिना खिरते नहीं, तब वह करता क्या है कि जितने शरीर उसे पाने पड़ेंगे उन सब शरीरोंकी वे समाधिके बलसे यहीं पैदा कर लेते हैं और उन शरीरसे जो कुछ कर्मोंका भोग करते थे वे सारे भोग उपभोग यहीं पा लेते हैं तो बड़ी जलदी कर्मोंका क्षय हो जाता है और संमार फिर उसका नष्ट हो गया, मुक्ति हो गयी। क्योंकि, अगले कर्मों को उत्पत्तिका कारण तो है मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न होते हैं रागद्वेष। तो रागद्वेष उस तत्त्वज्ञानीके नहीं हैं उस समाधिमें, उस ज्ञानमें। और, शरीर सारे उसने यहीं पा लिये तो कर्म तो दूर हो गए। भोग तो मिल गए पर रागद्वेष न होनेसे कर्मोंका बन्ध नहीं कर सका क्योंकि जितने भी बन्धन होते हैं वे अनुसंधानसे होते हैं। अनुसंधानके सायने है रागद्वेष। ग्रन्थ मिथ्याज्ञान जब नष्ट हो गया तो अभिलाषा तो रहा नहीं। जब अभिलाषा न रही तो कर्मबन्धन नहीं हो सकते। ऐसी भी शङ्का करना युक्त नहीं है कि उस तत्त्वज्ञानीके उन अनेक शरीरोंका कैसे उपभोग हो जायगा, क्योंकि कर्मोंके क्षय करनेकी वाञ्छा है तो उसे यहीं सारे शरीरोंका उपभोग पाना पड़ेगा। तब उसके कर्म दूर हो सकेंगे। जैसे कोई रोगी ही है, कड़वी होनेके कारण उसकी इच्छा नहीं

है कि मैं इस श्रीष्ठिको खाऊं पर उसे खाना पड़ता है तब उसका रोग दूर होता है इसी तरह जिसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करना है उसे समस्त कर्मोंका फल भोगना होगा तभी पूर्वबद्ध कर्म निर्जराको प्राप्त हो रक्खें।

फलोपभोगके एकान्तमें कर्मसुक्तिका अनवकाश—अब शङ्काकारकी उत्तर बातका उत्तर आचार्य देव देते हैं कि वाह तुम्हारे ग्रन्थोंमें तो यह भी लिखा है कि जैसे बहुत बड़ा भारी ईंधनका ढेर हो तो अग्नि सारे ईंधनको क्षण भरमें जला देती है, भस्म कर देती है इसी प्रकार तत्त्वज्ञानकी अग्नि सारे कर्मोंको क्षण भरमें जला देती है। शङ्काकारका यह कहना है कि जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तो इच्छा न रहकर भी सारे शरीरोंको यहाँ अपनी समाधिमें उत्तरान्त करता है और उन सबका फल भी भोगता है और उस भोगसे कर्म दूर होते हैं। तो इसके मायने यह नहीं हुआ कि इच्छाके बिना भी रागादिकके बिना भी शरीर धारणा कर लिया, कर्मफलको भोग लिया। रागके बिना स्त्री आदिकका उपभोग वहाँ सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्म तो फल दिए बिना नष्ट नहीं होते, और कर्म कुछ ऐसे पढ़े हैं कि पञ्चेन्द्रिय विषयोंका भोगना ही उसका फल है सो उस सपाधिमें यदि विषयोंका उपभोग भी करते हैं स्त्री का उपभोग करते हैं तो ऐसे अत्यन्त भोग करने वाले जो कि आशक्तिके बिना सम्भव नहीं गुद्धिमान हो गए। फिर तो उन योगियोंके पुण्य पापका आना बराबर सम्भव है। जैसे यहाँ राजा लोग जो अति भोगी हैं उनके कर्म लदते हैं कि नहीं? लदते हैं। इसीप्रकार उस तत्त्वज्ञानी योगीने भी उपशब्दरणके बजासे सारे शरीरोंके ऐव भोग डाले शरीरसे जो जो विषयसेवन करने थे वे सब विषय एक ही भ्रवमें यहाँ कर डाले तो वह तो अत्यन्त भोगी हुआ। उसके कर्म न वायें यह कैसे सम्भव है? और भी देखो जैसे वह रोगी वैद्यके बताए अनुसार श्रीष्ठिका सेवन कर रहा है तो इच्छा है तभी तो कर रहा है, उसे निरोग होनेकी अभिलाषा है तभी तो वह रोगी वैद्यका उपदेश मानता है और श्रीष्ठिका सेवन करता है। केवल ज्ञान मात्रसे श्रीष्ठिसेवनमें प्रवृत्ति तो नहीं करता, इसी प्रकार जितने भी फल भोगे जायेंगे उस तत्त्वज्ञानोंके भी इच्छा है सो उन फलोंके भोगमें कर्मोंका बन्ध सम्भव है। कौन इसे मानेगा कि कोई स्त्री सेवन कर रहा, अनेक राग रागनी सुन रहा, इतने सारे फलोंको भोग रहा है और उसके कर्मबन्ध न हों इसे कौन मान लेगा?

दृढ़ सम्भवज्ञानके बलसे कर्मोंका प्रक्षय व अनन्तचतुष्टयस्वरूप मोक्ष का लाभ—सम्यक् तत्त्वज्ञानमें स्वयं ऐसी सायद्य है कि उन कर्मोंको बदल करदे, उनकी वक्ति नष्ट करदे। तो यह कहना युक्त नहीं कि तत्त्वज्ञानीके भी कर्मोंके उपभोग से कर्म दूर होते हैं। तो फिर कर्म कैसे दूर होते हैं? सम्भवज्ञान हो जैसे कि स्पादाद के द्वारा निर्णीत होता है, आत्माका सही ज्ञान कोई जान ले जैसा कि अपने स्वरूपसे है ज्ञानमय, आनन्दमय और उस सहज ज्ञानानन्दकी उपासना करे तो उससे जो

स्थिरता आती है उसमें यह सामर्थ्य है कि आगे कर्म भी न आये और पहिले के संचित कर्म भी नष्ट हो जायें। तो न यहाँ शङ्काकारका तत्त्वज्ञान बनता है, न कर्मों के क्षयकी विधि बनती है तो मोक्ष भी नहीं बनता। फिर यह कहता कि ज्ञानादिक गुणोंका जहाँ अभाव होता है उसका नाम मोक्ष है यह तो ग गत बात है। मोक्ष नाम है अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्तशक्ति का विलासकरनेका व इस ही पावनस्वरूपमें ठहर जानेका।

कर्मप्रक्षयके कारण बनानेमें तत्त्वज्ञान व फलोपभोगके कथनकी परस्पर विरुद्धता—शङ्काकार वैदेविकका यहाँ यह मन्तव्य है कि आत्मा सत् न्यायी चीज है और ज्ञानादिक गुण सत् न्याये हैं। आत्माएँ ज्ञानादिक गुणोंका सम्बन्ध जुड़ता है और सम्बन्ध जुड़ जानेपर यह जीव अरनेको समझता है कि मैं ज्ञान वाला हूँ, वे ह वाला हूँ, वस इत बुद्धिसे संसारमें अप्रण बोता है। जब इसे तत्त्वज्ञान हो जाता है तो तत्त्वज्ञान होनेसे यह मिथ्याज्ञान दूर हुआ। ज्ञानको आत्मा माननेका अप या वह दूर हुआ। देहको भी आत्मा माननेका अप दूर हुआ तो इस मिथ्याज्ञानके नष्ट हो जानेते रागादिक नहीं रह सकते। रागादिक न होनेसे आगमी कालके लिए कर्मों का बन्धन न भी हो पाया। अब जो कर्म बंधे हुए हैं जिनकी स्थिति करोड़ों कलमें तक की है वे कर्म उभभोगसे दूर होते हैं, और तत्त्वज्ञानी पुरुष ऐसा समाधिव न लगता है कि करोड़ों शरीर जो आगे धारण करना पड़ते थे वे सब एक ही भवमें पा लेता है और उन शरीरोंसे जितने कल भोगने थे वे कफ अभी भी भोग लेता है। और उनके फलको भोग लेता है। और ऐसा कर्मक्षय होनेके बाद किर ज्ञान भी अलग हो जाता है। ज्ञानादिक गुणोंसे शून्य होनेपर ही मांक अवस्था कहलाती है। शङ्काकारके अभिमत ग्रन्थमें यह भी कहा गया है कि जैसे जाज्वलयमान अग्नि बहुतसे इंधनको क्षण भरमें भस्म कर देती है इधरी प्रकार तत्त्वज्ञानहीं अग्नि समस्त कर्मोंको क्षण भरमें भस्म कर देती है। तब यहाँ दो परस्पर विरोधी बातें आ गयी। एक मन्तव्यके अनुसार तो कर्मकल भागे बिना नष्ट नहीं हो सकते और एक इस मन्तव्यमें ज्ञान अग्नि सब कर्मोंको क्षण भरमें भस्म कर देती है तो ये दोनों विरोधी अर्थ वाले मन्तव्य हैं। इन दोनोंका एक मोक्षके उगायके सम्बन्धमें प्रमाणता कैसे होगी? ये तो परस्पर विरोधी वचन हैं।

तत्त्वज्ञान और फलोपभोगको कर्मक्षयका हेतु कहनेके परस्पर विरोध के परिहारका प्रयत्न—प्रब यहाँ शङ्काकार कह रहा है कि ये दोनों वचन विरोधी नहीं हैं। भोगनेसे कर्मोंका क्षय होता है यह तो है मुख्य विद्वान्त, और जो यह कहा गया है कि ज्ञान अग्निसे कर्म क्षण भरमें भस्म होते हैं यह है औरचारिक कथन। कैसे कि जिन ज्ञानी पुरुषोंने कर्मोंकी सामर्थ्य जान ली। कर्म बंधे हैं तो ये यों

फल भोगमें से छूटेंगे, वे ज्ञानी पुरुष आगमी मिलने वाले समस्त शरीरको उत्पन्न कर लेते हैं और उन शरीरोंके द्वारसे सब कर्म फलोंको भोगकर विनष्ट कर देते हैं तो आखिर समस्त शरीरोंको पा लेना और उनका फल भोग लेना यह बात करनेकी प्रेरणा इस तत्त्वज्ञानसे ही तो मिली है, इसलिए उस तत्त्वज्ञानसे तो एक बोध मिला कि इस तरहसे कर्मोंको भोग करके क्षय किया जायगा और फिर कर्मोंको भोग करके क्षय कर डाला तो आरिपर मूल बात तो तत्त्वज्ञानसे हुई, इस कारण साक्षात् तत्त्वज्ञान से कर्मोंका क्षय न होनेवार भी तत्त्वज्ञानकी प्रेरणा पाकर फलोपभोगसे कर्मोंका क्षय किया गया । अतः तत्त्वज्ञानसे कर्मक्षयका कथन किया जाता है । इसलिए इस आगममें कोई विरोध नहीं है । यह भी नहीं कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके कर्मोंना क्षय कर्मोंके उपभोगसे होता है क्योंकि ज्ञानसे ही कर्म नष्ट हो जायें, इसमें न कोई युक्ति है, न कोई उदाहरण है । हाँ फलोंके भोगसे कर्मोंका क्षय होता है इसके आगममें बहुत जगह कथन है ।

फलोपभोगसे निर्वाणिकी असंभवता और प्रबल तत्त्वज्ञानसे निर्वाणिकी संभवता—शङ्खाकारके उक्त उगालमभरिहारके सम्बन्धमें आचार्यदेव कह रहे हैं कि एक आगमके कथनको तोड़ मरोड़ करके उपचारकी बात कहना, यह केवल हठकी ही बात है । तत्त्वज्ञानमें सापर्य है ऐसी कि संचित कर्मोंका क्षय हो जाता है । जो तत्त्वज्ञान इतना निर्मल बनता है कि जिसमें स्वयंकी स्थिरता आ चुकती है, जिस परम सम्बरका रूप धारण किया है ऐसी स्थितिमें जो चारित्र उत्पन्न हुआ ऐसे उस सम्यक चारित्रसे बढ़े हुए सम्यज्ञानके उत्कर्षमें समस्त कर्मोंके क्षय करनेका सामर्थ्य है ही, इसमें कोई विरोध नहीं । हाँ, यह बात विश्वद है कि समस्त शरीरोंको उत्पन्न करके उन शरीरोंके द्वारा सारे भोगविषय करके उन कर्मोंका क्षय किया जाता है, इसमें विरोध है क्योंकि उपभोग रागके बिना नहीं किये जा सकते और किर उन शरीरोंके द्वारा उपभोगमें ऐसे ऐसे भी तो उपभोग शामिल है कि स्त्रीसेवन करना, दूसरेकी हिंसा करना, जो जो कुछ भी काम आगे करना था वह इस तत्त्वज्ञानीने समाधिवृल्से इस ही भवमें विषयसेवन आदि किया है तो वह इच्छाके बिना नहीं होता, और इच्छा से कर्मोंका नष्ट होगा, वह परम्परा चल गयी, उसमें मोक्ष नहीं हो सकता है । तो जन्मान्तर उत्पन्न न हो, नये कर्म न बनें इसका कारण फलोंका भोग नहीं है किन्तु प्रबल तत्त्वज्ञान ही है । जिसके परिपूर्ण सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यक चारित्र उत्पन्न हो गया है उस आत्माके नवीन कर्म नहीं बनते और वंधे कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

मोक्षका हेतु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक विशुद्ध भाव—मोक्षका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यकचारित्रका एकत्र है, इस त्रितयात्मक कारण से ही जीवयुक्ति होती है, तथा शरीररहित हुआ जो परमात्मतत्त्व प्रकट होता है वह भी सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, सम्यकचारित्रसे होता है अर्थात् परमसुक्ति भी सम्यग्दर्शन,

सम्यज्ञान, सम्यक्चारित्रसे होती है। जैसे संसारका कारण भी केवल मिथ्य ज्ञान नहीं वैसे मोक्षका कारण भी केवल सम्यज्ञान नहीं है। जिसमें सम्यक्चारित्र उत्तर्हित हुआ है ऐसा जो रस्त्रय भाव है वह मोक्षका कारण है। यदि सम्यग्दर्शनसे ही मोक्ष बनता है तो उसमें यह विशेषण लगाना होगा कि परम सम्वरुप चारित्रसे बढ़ा हुआ जो सम्यज्ञान है वह मोक्षका कारण है। संसारका कारण भी केवल मिथ्याज्ञान नहीं है; किन्तु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र यह नितय संसारका कारण है। एक ही सम्यज्ञान पात्रसे मुक्ति नहीं हो पाती है। जहाँ ऐसा कथन भी आता है अध्यात्मविषयमें कि ज्ञानसे मुक्ति होती है उसका भाव ऐसा लेना है कि परम प्रकर्ष प्राप्त सम्यग्ज्ञानसे मुक्ति होती है। वह परमप्रकर्षता क्या है? परमसम्वरुप सम्यक चारित्रकी साधनासे बढ़ा हुई दृतिरूप है, अर्थात् भाव उसका यह निकलता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्रसे मुक्ति होती है और जिस साधनसे मुक्ति पायी, जिस आत्माके उपायसे मुक्ति पायी, फिर वह उपाय वह स्वरूप मुक्तिमें समाप्त हो जाय यह मही ही सकता। यह सम्यक्त्व यह सम्यग्दर्शन, यह सम्यक्चारित्र जो मोक्षके कारणभूत हैं वे उत्कृष्टरूपसे मोक्षमें भी विद्यमान रहते हैं यह कहना युक्त नहीं कि ज्ञानादिक गुणोंका विनाश होनेसे मोक्ष होता है।

शङ्कापरिहार करते हुए वैशेषिक द्वारा फलोपभोगसे कर्मक्षय होनेका समर्थन - अब इस प्रश्नमें नैयायिक विशेष बीचमें कह उठते हैं कि मिथ्याज्ञानसे जो संस्कार उत्तर्न होता रहा था उस सहकारी संस्कारका अभाव होनेसे विद्यमान भी कर्म जन्मान्तरमें अन्य शरीरके उत्पन्न करने वाले नहीं होते, फनोरभोगसे कर्म विफल होते हैं यह बात सही नहीं है। किन्तु मिथ्याज्ञान नहीं रहा, मिथ्याज्ञानजित संस्कार नहीं रहा तो विद्यमान भी नहीं रहे आये कर्म तो भी वे जन्मान्तर करनेमें सर्वथ नहीं हो सकते। उनकी इस शङ्काके समाधानमें हस समय वैशेषिक ही उत्तर दे रहा है। यों समझिये कि जैसे किसीकी शङ्काका समाधान किसी दूसरे शकाकारके द्वारा करा दी जाती है तो वह अनना ही तो समाधान हुआ। जैसे जहाँ बहुत विवाद करने वाले लोग हैं उनमेंसे एकने विवाद उठाया तो अन्य विवाद उठाने वाले कोई यदि उसके विवादका, उसके अभिप्रायका खण्डन करे तो सबकी ओरसे ही खण्डन समझना चाहिये। क्योंकि जो शंका की गई है उसका निराकरण अ य सब चादिप्रौक्तीका इष्ट है तो वैशेषिक उत्तर दे रहे हैं कि यह कहना युक्त नहीं है कि विद्यमान कर्म भी राग-दिक उत्पन्न नहीं करते, क्यों युक्त नहीं कि उन कर्त्त्वेने यदि अपना कार्य उत्पन्न नहीं किया तो कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता। फिर तो कर्म नित्य हो जायेगे, फिर कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती। इससे मानना चाहिये कि कर्मोंके भोगसे ही कर्मक्षय है।

नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानके प्रयोजनका प्रश्न - वैशेषिकोंके प्रति अब नैयायिक अथवा अन्य कोई प्रश्न करते हैं कि जब यह निर्णय तुमने बनाया कि कर्मों

का क्षय कर्मोंके भोगसे ही हो सकता है तो फिर नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान किसलिए किया जाता है। याने तत्त्वज्ञानी बननेके बाद भी स्वाध्याय, प्रध्ययन आदिक करना, अन्य ग्रन्थ आत्मकी धुक्तिका साधन करना आदिक जो अनेक नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान हैं वे किसलिए किए जाते हैं क्योंकि भावी कर्मोंकी अनुत्पत्ति तो तत्त्वज्ञानसे हो गयी, सो कर्म बँधनेका डर तो रहा नहीं, अब जो कर्म रह गए हैं वे उपभोगसे दूर होंगे, फिर तत्त्वज्ञानी बननेके बाद फिर नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान किसलिए किया जाता है? गुणों पास रहना, शिक्षा लेना, प्रायशिच्चत लेना, दोषनिवारण करना, इससे भी ऊंचे काम ये सब क्यों अनुष्ठान किये जा रहे हैं?

तत्त्वज्ञानी होनेपर भी नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान किये जानेका शङ्खा-कार द्वारा उत्तर—उक्त शङ्खाका वैशेषिक उत्तर देते हैं फि वे सब दुष्कर्मोंके दूर करनेके लिए किये जा रहे हैं। यहाँ यह शङ्खा न करे कि “जब तत्त्वज्ञान हो गया तो दुष्कर्म तो मिट ही गए थे, अब कौनसे दुष्कर्म रह गए जिनके भेटनेके लिए ज्ञानी पुरुषोंको भी तपश्चरण आदिक नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान करने पड़ते हैं।” सुनिए—वे दुष्कर्म क्या हैं? वे पहले जैसे तो नहीं हैं, उन दुष्कर्मोंका तो आभाव हो चुका, क्योंकि विषय ज्ञान नहीं रहा। सो जो निषिद्ध आचरण हैं—दूसरेको हिंसा करना, भूठ बोलना, चोरी करना, कुशील करना, परिग्रहोंका संचय करना आदिक, उनके परिहारके लिए तत्त्वज्ञानी नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान नहीं करता, वे तो तत्त्वज्ञानके बलसे पहले ही दूर हो गए लेकिन तत्त्वज्ञान होनेपर जो कार्य किए जाने चाहिए, जो अनुष्ठान किये जाने चाहिए उनमें कोई दोष लग जाय तो उसके लिए वह प्रायशिच्चत आदिक अनुष्ठान करता है क्योंकि यदि अनुष्ठान करे, धर्मकार्य न करे, व्यवहार धर्म न करे तो ये दोष दूर नहीं होते। आगममें भी लिखा है। वैशेषिक कहते जा रहे हैं कि जो स्वर्गोंकी इच्छा करता है वह इन यज्ञ आदिकोंको करता है, पर जिसे मोक्षकी इच्छा है वह इन यज्ञ आदिकमें बृत्ति नहीं करता, किन्तु जो भी अनुष्ठान करता है बस मोक्षके लिए करता है। जो भी योग साधनावें मोक्ष साधनाके लिए किए जाने चाहिए, की हुई गतियोंकी आलोचना करना, तपश्चरण करना, भक्ति करना आदिक वे सब नित्य नैमित्तिक क्रियायें किया करता है। क्योंकि निर्वाण क्या है? कैवल्यका नाम निर्वाण है। केवल रह जाए, अकेला आत्मा रह जाय, उसमें ज्ञान भी न रहे, खाली करना है ना, जैसे खाली घड़ा। उसमें पानी या अन्य कोई चीज न रहे वह खाली हो गया। इसी प्रकार वैशेषिक सिद्धान्तका निर्वाण ऐसा खाली माना गया है कि जहाँ समस्त गुणोंका उच्छ्रेद हो जाता है। ऐसा केवल आत्मा ही आत्मा रहे वह निर्वाण है, ऐसे निर्वाणके लिए जो तपश्चरणके विवान बताए गए हैं उनमें दोष आ जाय तो उन दोषोंके दूर करनेके लिए ये अनुष्ठान किए जाते हैं।

गुणोच्छेदरूप निर्वाणकी अनित्यताकी शङ्खाका परिहार करते हुए

शङ्काकार द्वारा फलोपभोगसे कर्मक्षय होनेका समर्थन — विशेषवादी कह रहे हैं कि इस प्रसङ्गमें कोई यह शङ्का न करे कि तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानका प्रब्धवंस होता और मिथ्याज्ञानके प्रब्धससे होता गुणोच्चेद विशिष्ट आत्मस्वरूपका निर्वाण, तो यह तो तत्त्वज्ञानका कार्य है और जो जो कार्य होते हैं वे सब अनित्य होते हैं। सो यह गुणोच्चेदरूप निर्वाण अनित्य है, ऐसी शङ्का न करो क्योंकि तुम किसको अनित्य बताना चाहते हो ? उन ज्ञानादिक गुणोंके अभावकी अनित्य बताना चाहते हो या तदविशिष्ट आत्माको ? गुणोच्चेदको अनित्य नहीं कह सकते क्योंकि वह नो अभावरूप चीज है प्रब्धवंसाभावमें नित्य अनित्यका प्रश्न नहीं उठा करता है वह तो तुच्छाभावरूप है। अभाव मायने कुछ नहीं। अब उनमें कहना कि नित्य है अथवा अनित्य है, यह सो प्रलाप है। यदि कहो कि जिस आत्माका निर्वाण होता है, उस आत्माके गुणोंका विनाश होता है सो उस गुणोच्चेदसे विशिष्ट आत्ममें अनित्यता है, यह कहना यों युक्त नहीं है कि हम आत्मा और ज्ञानको एकमेक मानते अनित्यता है, यह कहना यों युक्त नहीं है कि वह आत्मा और ज्ञानको एकमेक मानते होते तो गुणोंके अभावसे आत्माका अभाव माना जा सकता था। पर उनका तो अत्यन्त भेद है आत्मा तो केवल चिन्मात्रा निराला है और ज्ञानादिक गुण ये सब प्रथक् सत् हैं इस कारण हमारे भंतव्यमें यह दोष नहीं आता। अब प्रसङ्गकी बात प्रथक् सत् है इस कारण हमारे भंतव्यमें यह दोष नहीं आता। अब कर्मक्षयकी बात यहाँ सिद्ध होती है कि कर्मोंका क्षय होता है वह फल भोगनेसे ही होता है, फल भोग बिना कर्म दूर नहीं होते।

नयवादसे तत्त्वज्ञानमें और नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानमें कर्मक्षयकी हेतुता— अब वैदेषिककी इस शङ्काका उत्तर आचायंदेव देते हैं कि मोक्ष कहलाता है केवल ज्ञानस्वरूप। गुणोच्चेदका नाम तो मोक्ष है ही नहीं। जहाँ ज्ञानका परिपूर्ण विकास हो जाता है मोक्ष, तो उस मोक्षकी प्राप्तिका कारण, केवलज्ञानकी प्राप्तिका कारण तत्त्वज्ञान कहना वह भी उचित है। नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान कहना भी उचित है। सब नयवादोंसे दृष्टियाँ उनकी लगाकर सबको सिद्ध किया जाना चाहिए। जो तत्त्वज्ञान सम्पर्क चरित्रसे बढ़ा हुआ है चारित्र सहित है, जो कि चारित्र नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानसे परिपूर्ण किया गया है उस तत्त्वज्ञानसे मुक्ति हुई। इसमें नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान, ज्ञात संयम त्यागकी भी बात आ गयी और तत्त्वज्ञानकी भी नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान, ज्ञात संयम त्यागकी भी बात आ गयी। तो इन चारित्र रूप विधियोंसे तो मोक्ष होता पर फल भोगसे मोक्ष बात आ गयी। तो यह बात युक्त नहीं जचती। वैसे भी मोटेलरूपमें यह सब कोई जान सकेगा कि होता है यह बात युक्त नहीं जचती। वैसे भी मोटेलरूपमें यह सब कोई जान सकेगा कि क्या ? रागद्वेष हो, इच्छा हो, क्लेश हो। अगर ये न हों तो फल नाम किसका ? तो इसके होनेसे नवीन कर्मबन्धन होता, वे नवीन कर्म फल दिए बिना नष्ट नहीं हो सकते। फिर फल मिले, किश कर्म बंधे, वहाँ मुक्तिका अवसर नहीं है इसलिए यह

मानना ही होगा कि एक विशिष्ट सम्यग्ज्ञानसे फलका भोग किए बिना ही कर्मका प्रक्षय हो जाता है। जो कर्म वांधे उनकी स्थिति यथापि अनेक सामर्यों पर्यन्त हैं, असंख्य ते वर्षोंकी स्थिति है पर चारिसे उपवृद्धित सम्यग्ज्ञानमें ऐसी सामर्थ्य है कि निनकी स्थिति बहुत पड़ी हुई है उनको भी बहुत पहिले समयमें लाकर कुछका अवृद्धि पूर्वक फल पा करके भी उदय पाकर भी, कुछका उदय पाये बिना भी बदल करके, सक्राण करके उन कर्मोंका क्षय कर निया जाता है। जिस समय कर्मबन्ध होता है उस समय उन कर्ममें यह बात नहीं ठड़ी हुई है, ऐसी योग्यता नहीं है कि वह आगामी कालमें सक्रमणको प्राप्त होगा, फिर दूर होंगे तो ऐसी बात अभीसे पड़ गई हो कर्म बन्धक समयसे हो यह बात नहीं है, क्योंकि अचलावलीमें अन्य योग्यता आती ही नहीं है। हीं बजाव और बर्तीन होनके बाद उस ही कर्ममें क्या, सभी कर्मोंमें योग्यता है ऐसी, एक कुछ निकाचित जैसे बन्धको छोड़कर कि वह समयसे पहिले निर्जीर्ण हो सकता है। तो फलके भोगसे ही कर्मोंका क्षय होता है यह बात युक्त नहीं है।

आत्माको विशुद्ध परिणतिसे मोक्षमार्गका लाभ — सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र शर्यात् आत्मतत्त्वका यथार्थश्रद्धान, मैं किस स्वरूप हूँ, और उस हीका उपयोग, और उस हीमें स्थिरता, इस उपायसे कर्मोंका क्षय होता है। जब ज्ञानमात्र मैं हूँ इस प्रकारके अभ्याससे जिस अभ्यासका प्रारम्भ भेदवज्ञानके प्रसादसे हुआ है, ज्ञानमात्र स्वरूपमें सप्तन होता है तब कर्मक्षय होता है। जब ज्ञानी पुरुषोंने यह जाना कि मैं तो शारीरसे भी निराला और अपने आपमें उत्तरान होने वाले सारे विकल्प जालोंसे भी न्यारा केवल ज्ञातुत्वमात्र स्वरूप रखने वाला आत्मा हूँ अन्य सब पर हूँ और अहित^{६४} भी है, किसी भी बाह्यपदार्थका समागममें यह अनुभव होता है कि बहुतसे अहितसे दूर हो गए, लेकिन कुछ उपयोग बदल गया, तो हम उसमें हितरूप विचार करते हैं वस्तुतः पर समागमोंसे जितना लगाव है वहाँ अच्छासे अच्छी समागम है किन्तु लगाव मात्र अहितरूप है। उस लगावमें अच्छे समागमोंमें लगाव रखनेसे जो पहिलेसे बहुत लगाव अपने आप मिट गए उसकी अपेक्षासे तो हित है पर लगाव मात्र अहित है। तो किसी भी बाह्य पदार्थके समागममें हित नहीं रखा है। जब भी पर पदार्थ कारण बनेगा। निविकल्प स्थितिका कारण पर द्रव्य नहीं बन सकता। हीं इतना फक्के होगा कि जो वर्षोंके बाह्य साधन हैं देव शास्त्र गुरु आदिक उन आयतनोंके खण्डल करनेसे उनका ध्यान रखनेपे एक शुभ विकल्प बनता है, शुभोपयोग बनता है, और वह शुभोपयोग चाहे उस निविकल्प स्थितिके निकट पहुँचा दे, लेकिन निर्विकल्प स्थितिके समय किनी भी परद्रव्यमें हृष्ट नहीं रह सकती है। पर द्रव्यका आश्रय करना तब तक है जब तक निविकल्पता नहीं रह सकती है। तब जितने भी बाह्यपदार्थ हैं इनका समागम नहीं है, परिजनका गमागम भी हितरूप नहीं है, वे अपने ही भुजावापथमें ले जानेके ही कारण बनते हैं। यह शरीरका समागम भी हितरूप नहीं है। और, अपने अन्तः उत्तरान होने वाले विकल्प विचार रागद्वाषा-

दिक विभाव ये भी आत्माका अहित कर रहे हैं। ये सारे विकारदाह इस चैतन्य भूमि को बंजर कर रहे हैं, जहाँ फिर उस शान्ति आनन्दका विकास नहीं हो सकता, जहाँ शान्ति आनन्दके अंकुर नहीं जम सकते, ऐसी स्थिति कर डालते हैं विभाव, सो ये रागादिक विभाव भी हितरूप नहीं हैं।

स्वद्वयके ग्राघर्यसे ही निर्विकल्प समाधिकी सिद्धि—किसी भी परतत्वका लगाव चाहे वह श्रीगचिह्न स्वविभाव हो अथवा एकदम परद्रव्य हो किसीका भी लगाव आत्माके हितरूप नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ इस प्रकारकी निरन्तर भोवता रखनेसे ज्ञानमात्रका अनुभवन होता है। अहाँ केवल ज्ञानमात्र ही अनुभवमें रहता है उस स्थितिको पानेके साथ ही सम्भवत्व उत्तराश हो जाता है और फिर यही ज्ञान स्थिर रहे ऐसा ही उपयोग निरन्तर बना रहे, ज्ञानमें ज्ञान समाया रहे, आत्मस्वरूपमें ज्ञान रमा रहे इस प्रकार आनन्दिक शुद्ध आचरण थने तो वहाँ कहलाता है सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक् गारित्रका बत्तना। ऐसे इस त्रितयात्मक उपरायसे मोक्ष होता है। मोक्ष छुटकारा हो नहीं सकता। इससे यह बात मान कर इस प्रयत्नमें चलना चाहिए कि हम अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका अद्वान करें, उपयोग बनायें और इस ही प्रकारके ज्ञानमें अपनेको रमायें यही रत्नत्रय शोक्षका उपाय है।

गुणोच्छेदरूप मोक्षकी चर्चाका मुख्य प्रसङ्ग—आत्माका सर्व कल्याण मोक्षमें है। संसारके संकटोंसे छुटकारा हो जानेमें ही आत्माकी भलाई है। इस मोक्ष का स्वरूप क्या है? इसके सम्बन्धमें यहाँ चर्चा चल रही है। सिद्धान्त तो यह है कि आत्मा ज्ञान दर्शन सुख शक्ति आनन्दस्वभावी है। तो उसके इन गुणोंका पूर्ण विकास हो जाय इसका नाम मोक्ष है। मोक्ष शब्दका अर्थ यद्यपि छुटकारा है, सर्व परभावोंसे सर्व परद्रव्योंसे, बन्धनोंसे छुटकारा होनेका नाम मोक्ष है। पर मोक्ष होनेपर आत्मा की क्या अवस्था रहती है। इस बातपर यहाँ कुछ विवाद चल रहे हैं। तो सिद्धान्त तो यह है कि अनन्त चतुर्ष्टयस्वरूप लाभ होना इसका नाम मोक्ष है, इसके विरोधमें वैशेषिकोंने यह बताया कि आत्मामें ज्ञान आनन्द आदिक कोई कमी न रहें, खाली चैतन्य मात्र आत्मा रहे उसका नाम मोक्ष है। तो वैशेषिक सिद्धान्तमें अभिमत मोक्षका स्वरूप यह है कि जहाँ ज्ञानमें समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। केवल आत्मा रह जाता है उसका नाम मोक्ष है। तो केवल आत्माका रह जाना यह तो ठीक है पर ज्ञानादिक गुणोंके बे आत्माका स्वरूप नहीं मानते संसार अवस्थामें भी ज्ञानादिक गुण आत्माके स्वभाव नहीं हैं बे गुण स्वयं सत् स्वतंत्र हैं उनका सम्बंध आत्मामें जुड़ता है तब आत्मा ज्ञानी बनता है। संसार अवस्थामें भी ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है जो ज्ञान आदि गुण लग गये थे आत्माके माथ दुःख पहुँचानेके लिए बे समस्त ज्ञानादिक गुण दूर हो गए इसका नाम मोक्ष है। इस सम्बन्धमें काफी प्रकाश डाला गया।

ब्रह्मस्वरूप आनन्दकी अभिव्यक्तिकी मोक्षरूपताका प्रस्ताव—अब इस ही प्रपञ्चमें एक भास्करोय वेदान्ती जो वेदान्तका ही एक प्रकार है बोलते हैं कि मोक्ष प्रवस्थामें चैतन्यका भी उच्छेद होनेसे बुद्धिमान लोग तो उसमें न लगेंगे इसलिए श्रावन्दस्वरूप मोक्ष माना जाना चाहिए । मोक्ष में आनन्द ही आनन्द रह जातो है और वही आनन्द आत्माका स्वरूप है और आनन्द रह जाना इसका नाम मोक्ष है । अथवा ज्ञानादिक गुण जैसे स्तम्भ किए वैशेषिक सिद्धान्तमें तो इसके मायने है कि अनुभवन सब समाप्त हो गया । वहाँ फिर कुछ जानना ही नहीं रहा । तो जद कुछ चेतना भी न रही, जानना भी न रहा तो ऐसे मोक्षको कौन बुद्धिमान चाहेगा ? और कहाँ आनन्द गुण है ही । आनन्दस्वरूप ही आत्मा है । और उस आनन्दका जो चरम विकास है इसीका नाम मोक्ष है । यहाँ अनुमान बनाया जा रहा है भास्कर लोगोंके द्वारा कि आत्मा सुखस्वभावी है, क्योंकि अत्यन्त प्रियत्व बुद्धिका विषय होनेसे अर्थात् इस आत्मामें अत्यन्त प्यार है, सब जीवोंका, यही आत्मा प्रिय है, ऐसी बुद्धि लग रही जीवोंकी । कैसी भी स्थितियाँ आयें उन सब स्थितियोंकी परवाह न करेंगे और अपने आत्माकी परवाह करेंगे ।

आनन्दस्वरूप आत्माको प्रियताका एक दृष्टान्त—जरा यह निर्णय करने आप बैठें कि लोकमें सबसे प्यारा कौन है ? जिससे अधिक प्यारा और कुछ न कहलाये ? तो कल्यानानुसार लोगोंके अपने मनमें जुदे-जुदे विचार बनेंगे । जब बालक साल डेढ़ सालका रहता है, चल फिर भी नहीं सकता तब तक उस बच्चेसे पूछा जाय कि ऐ बच्चे ! तुम्हें सबसे प्यारी चीज क्या लगती है ? तो उस बच्चेका उत्तर होगा कि मबसे प्यारी चीज हमें आगनी माँकी गोद लगती है, इसके सिवाय अन्य कुछ भी प्यारी चीज नहीं लगती ! तो ठीक है जब कोई उस बच्चे को छेड़ता है तो वह झट अपनी माँकी गोदमें पहुँचकर अपनेको पूर्ण सुरक्षित अनुभव करता है । वही बच्चा जब ४-५ वर्षका बालक बन जाता है तो उसे अब माँकी गोद प्यारी नहीं रहती, उसे प्यारे हो जाते हैं खेल लिलोने । वह खेल लिलोनोंमें रम जाता है । कोई पूछे—ऐ बच्चे ! तू तो कहता था कि मुझे माँकी गोद सबसे प्यारी है । क्या उठता कहनेका, अब तो उसे कोई जबरदस्ती माँकी गोदमें बैठाल दे तो वह बैठना नहीं चाहता । वहाँ से हटकर भगकर खेलनेकी ही सोचता है । तो अब उस बच्चेको माँकी गोद प्यारी नहीं रही । वही बालक बढ़कर जब १०-१२ वर्षका हो जाता है तो उससे कोई पूछे कि तुम्हें सबसे प्यारी चीज क्या है ? तो वह कहेगा कि मुझे तो पढ़ना लिखना सबसे प्यारा है । जब कोई नई बात भाषा, हिंसाब, इतिहास आदिकी जाननेको मिलती है तो उसे वही बातें प्रिय हो जाती हैं, अब उसे खेल लिलोने प्रिय नहीं रहते । वही बालक जब कुछ और बड़ा हो जाता है तो उसे प्रिय हो जाता है किसी भी प्रकारसे परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना । उत्तीर्ण होनेके लिए वह परीक्षा-पुस्तिकाओंका पता लगाने में रहता कि कहाँ किसके पास गई हैं ? किसीसे कह—मुनकर नम्बर बढ़वाने व पास

होनेकी बात सोचता है। उसे अब परीक्षामें किसी न किसी प्रकारसे उत्तीर्ण हो जाना सर्वंप्रिय हो जाता है। कुछ और बड़ा होनेपर उसे बी. ए. ऐम. ए आदिकी डिप्पियाँ प्रिय हो जाती हैं। चब बड़ा जवान होगया तो उसके मनमें बग़ू शादीकी बात आती है, उसे अब स्त्री प्रिय हो गयी। कुछ समय ब्यतीत हुआ सतान भी हो गयी, अब संतानपर दृष्टि अधिक हो गयी, स्त्रीपर अधिक दृष्टि न रही, अब तो उसे बच्चे मव से अधिक प्रिय हो गए। अब बच्चे भी हो गए, बहुत समय गुड़ गया, अब वहाँ भी अधिक दृष्टि न रही अथवा उनके पानन—गोषणके लिए घनकी आवश्यकता है अतः उसे अब धन प्रिय हो गया। अब धनके अजंन करनेमें अपना कदम रखा। मान लो अब वह ५०—६० वर्षका हो गया, अचानक धरसे फोन आया, घरमें आग लग जानेका समाचार मिला तो झट वह धरकी ओर भगता है। पहले तो रास्तेमें मिलने वाले लोगोंसे बात भी कर लेता था, अब उसे उनसे बात करनेको भी पुरस्त नहीं है। जब घर पहुँचा तो देखा कि आग बड़ी तेजीसे बढ़ रही है। बड़ी मुश्किलसे उगने अपने स्त्री पुत्रादिको निकाला, धनको निकाला, बादमें एक बच्चा अभी नहीं निकल पाया, और आग बहुत तेजीसे बढ़ गयी तो वह किसी सिपाही से कहता है, भैया ! मेरे बच्चेको निकाल दो, हम तुम्हें १० हजार रुपए देंगे। लो देखो ! अब उसे अपने प्राण सबसे प्यारे हो गये बच्चा भी ध्यारा न रहा। कुछ समय बाद उसके बैराग्य जगा, मव कुछ त्यागकर वह अपनी साचुवत्तिमें रहने लगा, आत्माकी साधनामें बड़ा अम्यास किया, आत्माके आनन्दका बड़ा अनुरूप किया। ऐसी ही किसी स्थितिमें कोई शत्रु अथवा सिंह आक्रमण करे, उसकी जान ले तो अब वह पुरुष क्या करता है ? अपने आत्माकी दृष्टिमें रत रहता है, प्राणोंकी भी उपेक्षा करता है एक ज्ञानभाव ही उसे ध्यारा हो गया। यह ज्ञान भाव में एक समयको भी मत मिटो। प्रगर रंच भी विकल्प करके ज्ञानानुभवसे हटकर किसी बाह्यमें लग गए, उस शत्रुके अथवा मिहके विकल्पमें लग गए प्रथवा यह भी विकल्प किया कि थोड़ी देरको चूंकि बलवान तो स्वयं है ही, इस शत्रुको अथवा पिहको हटाकर फिर आनन्दसे ध्यान करूँ इतना ही विकल्प छुरा है। यहाँ अभी ही विकल्प किये जा रहे हैं तो मविष्यमें क्या आशा है कि निविकल्प स्थिति पायेंगे। इतना भी विकल्प ठीक नहीं है, प्राण जायें तो जायें, ये तो पौदालिक प्राण हैं, ये तो भव भवमें मिलें हैं। इन प्राणोंके मोहसे इस आत्माका क्या कल्याण है ? वह ज्ञानानुभवके लिए ही सारा बत्त कर रहा है। अब उसे प्राण भी ध्यारे नहीं रहे। अब उसे क्या प्यारा हो गया ? अपना यह ज्ञानस्वरूप, स्वयंका आत्मा। अब इसके बाद कोई भी घटना ऐसी नहीं हो सकती जहाँ यह कहा जा सके कि लो अब अबना आत्मा भी ध्यारा नहीं रहा, ज्ञानानुभव भी ध्यारा नहीं रहा।

दो हेतुओंसे आत्माके आनन्दस्वरूपका समर्थन—भैया ! अत्यन्त प्रियत्व बुद्धिका तिष्य है यह आत्मा। अतएव यह आत्मा आनन्दस्वभावी है, जिसमें अत्यन्त प्रियताकी बुद्धि लगे, आनन्दरूप तो वही है, आत्माके आनन्दस्वरूपतोका और भी

दूसरा हेतु सुनो ! आत्मा सुखस्वभावी है, आनन्दस्वरूप है क्योंकि अनन्यपर होकर एकवित्त होकर यह आत्मा अपने द्वारा आपमें ग्रहण किया जाने वाला है । यद्यपि मनेक लोग स्त्री आदिकमें भी हचि परिणाम रखकर उनको ग्रहण कर रहे हैं मगर अनन्यपर होकर स्त्री आदिको भी ग्रहण नहीं किया करता कोई अपने आत्माको ही एक अनन्यपर होकर एक आत्माको अत्मामें ही लगानेरूपसे अपने स्वरूपको ही ग्रहण करता है अन्यको ग्रहण नहीं करता । इससे सिद्ध है कि आत्मा सुखस्वभावी है । जो अत्यन्तप्रिय बुद्धिका विषय होता है, जिसको अनन्यपरताके साथ ग्रहण किया जाता है वह सुखस्वभावी हुआ करता है । जैसे हठान्तमें सांसारिक वैषयिक सुख ले लो, इन को लोग कितना अत्यन्त प्रिय गानते हैं और कैसा अनन्यपर होकर इन सुखोंका ग्रहण करते हैं, तो अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय यह आत्मा है और अनन्यपर होकर इसको ही लोग ग्रहण किया करते हैं, अतएव यह आत्मा आनन्दस्वरूप है । उस आनन्दस्वरूपकी अभिव्यक्ति हो जानेका नाम भोज है । ऐसो भास्करीय वेदान्तने अरना सिद्धान्त रखा ।

आत्माकी आनन्दस्वरूपतापर प्रकाश—इस सिद्धान्तके सम्बन्धमें थोड़ी एक समालोचनात्मक छट्ठि दें तो यह बात ठीक है । आत्मा आनन्दस्वरूप ही तो है उसके आनन्दका चरम विकास हो जानेका नाम मोक्ष है, लेकिन आत्माका आनन्दस्वरूप मानना और फिर उस आनन्दस्वभावको नित्य अपरिणामी मानना बस इस मान्यतासे यह बात कुछ अर्थक्रियाहीन हो जाती है । वैसे इसमें गलती क्या है ? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, किन्तु जितने भी पदार्थ होते हैं वे सब पदार्थ नित्यानित्यात्मक हुआ करते हैं । सर्वथा नित्य भी कोई सत् नहीं होता, सर्वथा अनित्य भी कोई सत्य नहीं हुआ करता । तो नित्यानित्यात्मकमें यो ज्ञानकी अर्थक्रिया, आनन्द की अर्थक्रिया, अनुभवन ये सब बन सकते हैं पर मर्वथा नित्यमें न ज्ञानकी अर्थक्रिया बन सकती है न आनन्दकी अर्थक्रिया बन सकती । अनुभवन किसका नाम है ? पूर्व परिस्थितिका त्याग करते हुए नवीन स्थितिमें रहनेका ही नाम तो अनुभवन है । यह बात न सर्वथा नित्यमें बनती है न सर्वथा अनित्यमें बनती है ।

आत्मसुखको अनित्य माननेपर अनिष्ट प्रसङ्ग—इस समय चाहे स्याद्वादकी ओरसे समाधान समझो अथवा वैशेषिक शङ्काकारके प्रति नवीन शङ्का रखनेके कारण क्वचित् स्थलोंमें वैशेषिकको ही समाधानकर्ता मानो, उक्त शङ्काके त्रासाधानमें पूछा जा रहा है कि आत्माका सुख जो मोक्षमें प्रकट होता है वह नित्य है अथवा अनित्य ? अनित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि आत्माका वह आनन्दस्वरूप अनित्य हो गया तो सुख है आत्माका स्वरूप । सुखका है आत्मामें तादात्म्य तो सुख जब अनित्य है तो इसका ग्राह्य है कि आत्मा भी अनित्य हो गया, तो सुख भी मिट जाने वाली चीज हुई, और ऐसा शङ्काकार मानता भी नहीं है । वह तो अपरिणामी कृत्स्य नित्य

समझता है। जो लोग ब्रह्मका स्वरूप केवल सत्त्व मानते हैं वे भी अपरिणामी मानते हैं और जो लोग ब्रह्मका स्वरूप आनन्द मानते हैं वे भी अपरिणामी मानते हैं। तां सर्वथा अपरिणामी अर्थात् नित्य माना जानेमें कोई कार्य नहीं हो सकता है।

नित्य सुखके संवेदनको नित्य माननेपर आपत्ति—यदि कहो कि आत्मा का वह आनन्दस्वरूप नित्य है तो उस आनन्दका अनुभवन होता है तभी तो आनन्दका उपभोग है। अनुभवन बिना आत्माका क्या उपयोग, और क्या सत्त्व? और, यदि आनन्द है तो उसका सम्बेदन भी जहर माना जाना चाहिए। तो यह बतलावों कि उस नित्य सुखका सम्बेदन जो होता है ज्ञान होता है, अनुभवन होता है वह ज्ञान भी नित्य है अथवा अनित्य है। आत्माका सुख तो नित्य मान लिया, मगर उस सुखका जो अनुभवन है, ज्ञान है वह अनुभव नित्य है अथवा अनित्य? यदि कहो कि नित्य सुखका अनुभव भी नित्य है तो देखो! आत्माका सुख भी नित्य हो गया और उस सुखका अनुभव जग्ना भी नित्य हो गया। तो मुक्त और संसारी जीवमें फर्क क्या रहा? आत्माका स्वरूप ही आनन्द माना और उस नित्य आनन्दका अनुभव भी सदा माना तो यही बात तो मुक्त जीवोंमें मानी जाती है। परमात्मा नित्य सुखी है और नित्य ही सुखका अनुभव करते बळा है। उनके सुखमें और गुडानुभवमें कोई भी एक समयका अन्तर नहीं आता। तो जो बात मुक्त जीवोंमें हो गयी वही बात अब इन संसारी जीवोंमें हुई, क्योंकि आत्मा सुख स्वभावी है और संसारी जीवोंमें हुई क्योंकि आत्मा सुख स्वभावी है और उसका सम्बेदन भी, अनुभव भी सदा रहता है सो एक तो यह आपत्ति आयी कि मुक्त जीवमें और संसारी जीवमें कुछ अन्तर नहीं रहा। अब अन्य भी आपत्तियां सुनिए!

नित्यसुखका नित्य संवेदन माननेपर अन्य आपत्तियाँ—आत्माके स्वरूप में नित्य सुख व नित्य संवेदन माननेपर दूसरी आपत्ति यह है कि संसारी जीवोंके फिर सुखका स्मरण भी नहीं बन सकता है, किन्तु स्मरण देखा जाता है। १०-५ वर्ष पहले जो सुख भोगे थे या जब कभी भूतकालमें जो सुख भोगे जाते थे उनका स्मरण यहाँ देखा जा रहा है लेकिन जब सुख भी निरय है और सुखका अनुभवन भी नित्य है, सदा है, तब तो वह प्रत्यक्ष ही प्रत्यक्ष रहा। अनुभव तो सदाकाल रहा। स्मरण कब नहीं है जब अनुभव कर चुके हों और अब अनुभव नहीं है तभी तो स्मरण है। किसी भी सुखका स्मरण लोगोंको होता कब है, जब कि वह सुख भोगनेमें तो नहीं है किन्तु भोग नुक्ते थे। लेकिन अब इस सिद्धान्तमें सुख भी सदाकाल भोगा जा रहा है, जैसे सुख नित्य है इसी प्रकार सुखका अनुभवन करना भी नित्य हो गया। तब फिर स्मरण भी नहीं बन सकता और सक्तार भी नहीं बन सकता। सक्तार कहते किसे हैं? अनुभव हो फिर हटकर दूसरा अनुभव हो फिर हटकर तीसरा अनुभव हो, ऐसा अनुभव बन जाए और कदाचित् अनुभवमें कुछ कमी प्रा जाय, ऐसी बात आ जाय

तो भी उसकी बारणा बनी रहे बारणा जान रहा करे उस हीका नाम तो संस्कार है किन्तु जब सुख भी नित्य मान लिया, सुखका अनुभव भी नित्य मान लिया तो अब बारणाको अवसर कहां ? सदा प्रत्यक्ष है, सदा अनुभव है तो संस्कार भी नहीं बन सकता । चौथी आपत्ति यह है कि आत्माका स्वरूप सुख माना और वह सुख है नित्य श्राद्धिणामी और उस सुखका अनुभव भी नित्य माना । श्राद्धिणामी माना, सदा वही रहता है तब फिर संपार अवस्थामें इन्द्रियजन्य सुख भी हो रहा है और वह सुख भी सदा चल रहा है तां ये दो सुख एक साथ पाये जाने चाहें । तब तो यह संसारी जीव भगवान्में भी बड़ा नहीं गया । जो बात मुक्त जीवमें थी कि सुख सदा रहे, सुखका अनुभव सदा रहे वह तो यहां है ही, क्योंकि आत्माका स्वरूप है, पर मुक्त जीवमें इन्द्रियजन्य सुख नहीं है । इसे इन्द्रियजन्य सुख और मिल गया तब तो यह मुक्त आत्मासे भी बहुत अधिक सुखी हो गया । इससे ऐसा भानना कि आत्मा आनन्दरूप है । कैसा आनन्दरूप ? नित्य श्राद्धिणामी । उस आनन्दरूपकी अभिव्यक्ति ही मोक्ष है, यह बात मानना एकान्तसे युक्त नहीं है । वैसे बात सही है आत्मा आनन्द स्वरूप है । न हो आनन्दरूप आत्मा तो आनन्दहीन मुक्तिके लिए कौन प्रयत्न करना चाहेगा ?

वस्तुपरिज्ञानमें त्रिभंगात्मक विशद निर्णय पदार्थ जितने होते हैं वे सब अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे तन्मय हुआ करते हैं । स्वरूपसे सत् रूपसे असत्, यह पदार्थोंका स्वरूप है । देखिए ! स्याद्वाद, जिसमें ७ भंग बताए गए हैं । यह स्याद्वाद यह सप्तभंग कुछ भी कहा जाय, उसमें अनिवार्यरूपसे आ ही जाता है । इसके बिना किसीका गुजारा नहीं । कितना एक मौलिक ज्ञानोग्राहका उपदेश जैन शासनने बताया है, जिस स्याद्वादके बिना कोई भी पुरुष न चल सकता है, न बैठ सकता है, न खा पी सकता है न बोल सकता है । कोई कुछ भी शब्द बोले तो उस बोलनेके साथ ही उसमें सप्तभंग आ जाते हैं । अभी चाहे ७ को छोड़कर ३ समझ लीजिए, तुरन्त स्पष्ट समझमें आ जावेंगे । जैसे कहा कि यह घड़ी है तो इस घड़ीके साथ इसमें यह ज्ञान लगा हुआ है कि नहीं कि यह घड़ी है, चौको, दरी, कपड़ा आदिक आन्य कुछ नहीं है । चाहे हम इस तरह न बोलें पर प्रत्येक पदार्थके बोलनेके साथ ही हमें वह स्पष्ट समझमें छाया है, ऐसा बोलनेकी जरूरत नहीं है । यहां जरूरत कुछ नहीं है, लेकिन निरायमें तो यह पड़ा हुआ है । जैसे कहा कि यह खम्भा है तो इसमें यह निराय पड़ा हुआ है कि यह यह ही है खम्भा ही है, इसके अतिरिक्त आन्य कुछ नहीं है । तो इसमें दो बातें अनिवार्यरूपसे आ गयीं—एक, यह है, दूसरी—यह आन्य नहीं है । ये दो बातें तो आ गयीं, किन्तु इन दो बातोंको हम एक साथ किसी एक शब्दसे, एक ढङ्गमें बोलना चाहें, बताना चाहें तो हमारे पास कोई उपाय नहीं है इसलिए यह अवक्तव्य है । ये तीन स्वतन्त्र बातें दो कुछ भी बोला जाय उसमें आ जाती हैं । इन्हीं का ही प्रयोग तो हर जगह है । जीव नित्य है यह कहना है तो जीव नित्य है, जीव

अनित्य है तो किर है क्या ? नुम एक सब्दमें बतलावो । द्रव्य दृष्टिसे नित्य है, पर्याय दृष्टिसे अनित्य है । दो बातें तो समझ ली मगर तुम एक सब्दमें सही बात तो बतला दो, तो वह अवक्तव्य है ।

दृष्टान्तपूर्वक त्रिभंगात्मक वस्तु परिज्ञानका कथन — भैया ! स्यादस्ति, स्यात्स्वत्त्वं, स्यादनकर्त्तव्यं तीन धर्मं कुछ भी सब्द बोलनेपर उत्तरान्त्र हो जाते हैं । कंई प्रयोग करे चाहे न प्रयोग करे मगर यह त्रितयात्मकता इसके प्रत्येक निर्णयमें पड़ी हुई है । अब इसके आगे और बढ़े तो चूंकि वे तीन धर्म हुए तो उनका जब मिश्रण करके जानना होगा तब चार धर्म उसके और निकलेंगे, क्योंकि जहाँ तीन वस्तुएं होती हैं उनका अगर सम्बन्ध किया जाय तो चार प्रकारसे सम्बन्ध होगा । जैसे कुछ भी चीज रख लीजिए—नमक, घना और मिर्च । इनको ही दृष्टांतमें ले लो । इनका कोई सम्मिश्रण स्वाद लेना चाहे तो चार तरहसे हो सकता है । नमक घना मिलाकर खावे, नमक मिर्च मिलाकर खावे, घना मिर्च मिलाकर खावे, यों दो दोके संयोग तीन प्रकारसे हो सकते हैं, और उन तीनोंको मिलाकर भी स्वाद लिया जा सकता है । वह एक सर्व संयोग हुआ । तीन स्वतंत्र धर्म, तीन इनके संयोगी धर्म और एक सर्वसंयोगी धर्म । इस तरहसे ७ बातें आती हैं । तीन चीजें हों तो उनका परिज्ञान अनुभवन स्वाद जो कुछ भी प्रयोग करे ७ प्रकारसे होता है ।

आनन्दस्वरूपकी नित्यानित्यात्मकता—जहाँ यह कहा कि आत्मा आनन्द-स्वरूप है उस आनन्दस्वरूपका जब विवरण करने चलेंगे तब हमें कहना होगा कि वह आनन्द द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, चूंकि स्वभाव है आनन्द । जैसे आत्माका ज्ञान स्वभाव है वैसे ही आनन्द भी स्वभाव है, नित्य है, और उस आनन्द स्वभावका परिणामन भी चलता है ना, अनुभवन चलता है तो यह परिणामन षडगुणहानिबृद्धि बिना नहीं हो सकता । उसमें सहज अनित्यता है और किन्हीं किन्हीं परिणामियोंमें तो स्पष्ट अनित्यत्व और परिवर्तन समझमें आता है । अतएव नित्यानित्यात्मक विषयको मानने पर तो यह बात युक्त बन जाती है कि आत्माका स्वभाव आनन्द है, पर नित्य एकांत में नहीं बनता । आनन्दस्वरूपकी बात तो युक्त हो जायगी, किन्तु यह किसी भी प्रकार संगत नहीं हो सकता कि ज्ञानादिक गुणोंका उच्छेद हो जाना विनाश हो जाना इसका नाम मोक्ष है, यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है । आत्मा आनन्दस्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है, जहाँ ज्ञान और आनन्दका परम विकास है उस हीका नाम मोक्ष है ।

मेरे आनन्दकी मेरेसे ही अभिव्यक्ति होनेका निर्णय—इस प्रकरणमें हम आपको अपने लिए भी कुछ सोचना चाहिए कि हम तो स्थयं ही ज्ञानस्वरूप हैं, ऐरा आनन्द धरते, परिजनोंसे, मिश्रोंसे, अन्य समस्त लौकिकजनोंसे अथवा किन्हीं भी विषयोंसे नहीं प्रकट होता । यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । जानन करता रहता हूँ । यह

जानन इस अवस्थामें रागमित्रित है, कुछ कलानाथों वाला है, ऐसा भी यह जानन, ऐसा भी यह परिणमन मेरा मेरेमें ही प्रकट होनेसे उत्तरानु उत्तरोगमें आ रहे हैं और कर्मविषय निमित्त सञ्चिकानमें है जिनके बिना इन वर्तमान इन्द्रियसुक्तोंकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इतनेपर भी आखिर यह परिणामित भेरी ही तो है, वह मेरेमें ही प्रकट नहीं होती है, अथ वस्तुसे प्रकट नहीं होती और जब विशुद्ध जाननकी परिणामित होगी, हो तो ही चाहिए उसकी रुचि रखा चाहिए तो वह तो कर्मविकार बिना और पराश्रव्य बिना होता है, वह तो स्पष्ट ही है। अपने आपका परमकल्याण के बल जाननमात्र रहनेमें है। यही मोक्षका स्वरूप है, इसलिए इस हीके सम्बन्धसे अपनेको ज्ञानपात्र अनुभव करनेमें लगें तो इस प्रसादसे हमारी अभिव्यक्ति हो होकर कभी हम ज्ञानमात्र स्पष्ट रह जायेंगे। इस हीका नाम मोक्ष है और इस ही अवस्थामें आत्मा का कल्याण है।

मोक्षके स्वरूपपर प्रातःज्ञानक विवादका वर्णन—मोक्षके अनेक प्रकारके स्वरूप यहां रखे जा रहे हैं। यों समझिए कि इस ग्रन्थमें प्रासंगिक विद्वाँओंकी सभा लगी है, उनमें हर एक कोई अपने अपने मोक्षके सम्बन्धमें जुदे-जुदे मन्त्रवर्ष रख रहे हैं। उन सबमें मूल शङ्खाकार तो विशेषवादी है जो आत्माको गुणोंसे रहित मानता है। गुणोंका अभाव होनेसे मोक्ष माननेका जितका सिद्धान्त है उन सिद्धान्तके प्रतिपादनके बाद दूनरे और लोग भी अपने अभिमत प्रकट करने लड़े होते हैं और उनका निराकरण यह मूल शङ्खाकार कर रहा है। इस सम्बन्धमें मोक्षके जिनने स्वरूप बताए जायेंगे उन सभी शङ्खाकारोंके स्वरूप किसी टॉपिसे यथार्थ हैं पर ज्ञानादिक गुणोंका उच्छेद हो जानेका नाम मोक्ष है यह किसी प्रकार ठीक न बैठेगा। हां यदि लौकिकज्ञानोंको ही युगु मान लिया जाय, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है, और फिर उस ज्ञानके उच्छेदका नाम मोक्ष माना जाय तब यह बात युक्त हो सकती है। यहां भास्करीय वेदांतशोने सिद्धान्त रखा था कि ब्रह्मका स्वरूप आनन्द है और उस आनन्द की अभिव्यक्ति होनेका नाम मोक्ष है। इसपर प्रतिप्रश्न किया गया था कि वह सुख नित्य है अथवा अनित्य ? जो सुख ब्रह्मका स्वरूप है वह सुख यदि नित्य है तो उसमें चार आपत्तियां दी गई थीं कि सुख नित्य हो गया तो 'कि' मुक्तिमें और संसारीमें कोई फर्क नहीं रहा। क्योंकि आत्माका स्वरूप तो सुख है और वह सुख नित्य है। तो संसारी जीवोंमें भी सुख रहा मुक्तमें भी रहा। नित्य होनेसे उसका स्मरण भी नहीं बन सकता। स्मरण तो व्यतीतका होता है। संस्कार भी नहीं बन सकता, क्योंकि एकदम वही बच रहा है तो संस्कार धारणाकी क्या आवश्यता ? और, एक साथ फिर संसारी जीवोंमें इन्द्रियजन्य सुख और नित्यसुख ये दोनों हो बैठेंगे।

नित्य सुखस्वरूप होनेपर भी मुक्त और संसारी जीवोंमें अन्तर बताने का प्रयास —उक्त विवादपर भास्करीय वेदान्ती कहते हैं कि संसार श्रवस्थामें बात

यह है कि घूँकि जीवोंके शरीर और इन्द्रिय लगे हैं ना, और पुण्य-पापके फलमें सुख दुःख आदिक होते रहते हैं ना, तो इन सुख दुःख आदिकों द्वारा और शरीर इन्द्रियके द्वारा नित्य सुखके सम्बदनका रुकाव होजाता है, इस कारणसे संसारी जीवोंकों नित्य सुखका अनुभव नहीं होता। जहाँ शरीर इन्द्रिय लगी हैं वहाँ नित्य सुख रुक गया है। जहाँ ये सुख दुःख हो रहे हैं इन्द्रियजन्य उनका यह भी सुख निरुद्ध हो गया है। तब तो संसारी जीवोंको नित्य सुखका अनुभव नहीं होता और मुक्त जीवोंको होता रहता है, क्योंकि उनके शरीर नहीं, इन्द्रियाँ नहीं, वैषयिक सुख दुःख नहीं, फिर फर्क हो गया मुक्त जीवोंमें और संसारी जीवोंमें। और इस ही कारण यह भी आपत्ति नहीं रही कि संसारी जीवोंमें दोनों सुख एक साथ पाये जाने चाहिये क्योंकि जब इन्द्रियजन्य सुख हो रहा है तो उस सुखके द्वारा नित्य सुख का निरोध हो गया। इन्द्रियजन्य सुख नहीं रहे, शरीर इन्द्रिय नहीं रहे, तो वह नित्य सुख फिर मानते हैं। तो दोनों सुख एक साथ आ पड़े यह भी आपत्ति नहीं रही।

शरीरादिके द्वारा नित्यसुखका प्रतिबन्ध होनेकी अशक्यताका विशेष-वादविवेचन—उत्त मन्तव्यका वैशेषिक उत्तर दे रहे हैं कि यह कहना यों युक्त नहीं कि शरीर आदिक तो सुखके लिए हुआ करते हैं। शरीर तो सुखका साधन है। शरीरका प्रयोजन क्या है? 'सुख' सुखके लिए शरीर मिला है तो जो चीज सुखके लिए मिली है वही चीज नित्य सुखका बाधक हो जाय यह कैसे सम्भव है? क्योंकि जो पदार्थ जिसके लिए आ करता है वह पदार्थ उस हीका प्रतिबन्धक नहीं होता। घूँकि शरीर सुखके लिए है तो शरीर सुखका विरोधी नहीं हो सकता। शरीरके कारण नित्य सुख रुक गया यह बात न बनना चाहिए। और, फिर वैषयिक धुख आदिकी अनुभूतिसे नित्यसुख को प्रतिबन्ध होता है, निरोध होता है, यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि यह बतलाओ कि इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाले सुखके द्वारा जो आत्माके नित्य सुखका निरोध हुआ, प्रतिबन्ध हुआ उस प्रतिबन्धका अर्थ क्या है? क्या नित्य सुखकी अनुपत्ति हो गई, नित्य सुख उत्पन्न नहीं हो सक रहा यह अर्थ है या नित्य सुखका विनाश हो गया यह अर्थ है प्रतिबन्धकका? अर्थात् इन्द्रियजन्य वैषयिक सुखने नित्य सुखकी उत्पत्ति बन्द कर दी या नित्य सुखका विनाश कर दिया, दोनों ही बातें सम्भव नहीं हैं, क्योंकि नित्य सुख तो नित्य माना गया। जो नित्य है उसकी अनुपत्ति कैसे रहे और विनाश भी कैसे हो? इस प्रकार वैषयिक सुख दुःख आदिकके द्वारा उस नित्य सुखका प्रतिबन्ध नहीं माना जा सकता। तब तो यह बिल्कुल सही रहा कि नित्य सुखवरूप होनेके कारण सब जीवोंमें नित्य सुख है तो मुखमें और संसारीमें अन्तर नहीं रहा और संसारी जीवोंमें फिर दो सुख एक साथ पाये गये।

नयवादसे सुखस्वभाव और उसके विकासका ससारीमें प्रतिबंधका कथन इस प्रकार वेदान्ती और वैषेषिकके प्रश्नोत्तरके पश्चात् स्याद्वादवादी कहते हैं कि वेदान्तियोने यह माना कि आत्मा सुख स्वरूप है और उस सुखस्वरूपका प्रतिबंध वैषयिक सुख और शरीर इन्द्रियके द्वारा हो गया है यह नयवादसे उचित बैठता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, लेकिन वह आनन्दस्वरूप द्रव्यदृष्टिसे नित्य है स्वभावदृष्टिसे नित्य है। उसे सर्वथा अपरिणामी नित्य माननेपर तो ये सब विवाद उत्पन्न हो जाते हैं, पर स्वभावदृष्टिसे नित्य माना जानेपर वहां इस कारण दोष न आयगा कि आनन्दका स्वभाव है जीवोंमें, पर उस स्वभावके परिणामनमें, उस स्वभावकी व्यञ्जना दो प्रकार की दुआ करती है। संसार अवस्थामें विकार रूप और मुक्त अवस्थामें अविकार रूप। तो जो उस आनन्द गणके विकार है वे ही पुण्य पापके फलरूप सुख और दुःख हैं। तो उन सुख दुःखको परिणातियोंके कारण आनन्दस्वरूपकी व्यञ्जना नहीं हो सकी इस कारसे नित्य सुख नित्य आनन्द स्वभाव होनेपर भी मुक्त जीवोंमें और संसारी जीवोंमें अन्तर आ जाता है। पर वे सर्वथा ही नित्य हैं, अपरिणामी नित्य हैं। हैं प्रकट तो प्रकट ही हैं ऐसा माननेपर भी दोष है। स्याद्वाद दृष्टिसे देखलो कि ससारी जीवोंमें मोक्षसम्बन्धी आनन्दको अनुभूति नहीं हो सकती। अर्थात् इन ससारी जीवोंमें भी आनन्द शक्ति तो है ही, सब आत्मा आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होनेपर भी छूंकि व्यक्त रूपमें वह आनन्दस्वरूप इस समय विकृत है अतएव आनन्दस्वरूपके अविकार परिणामनका अनुभव संसारी जीवोंमें नहीं है। हां विकार परिणामन सांसारिक सुख दुःख का परिणामन इन जीवोंमें है, अतः नित्यसुखका और वैषयिक सुखका एक साथ उपभोग नहीं हो सकता।

विशेषवादीका सुखार्थ शरीर सम्बन्धी लौकिक उत्तर—वैषेषिकका उत्तर लौकिक दृष्टिसे सही बैठता है। संसारके जीव शरीरको सुखके लिए मानते हैं। तो जो चीज सुखके लिए है वह नित्य सुखका प्रतिबंध कैसे करे, किन्तु वस्तुत्व दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर सुखके प्रयोजनके लिए होता ही नहीं है, शरीर न दुःखके लिए है न सुखके लिए है, पर कारणाकार्य विधानमें आश्रय और आश्रितकार्यके विधानमें निमित्त नैमित्तिकके प्रसङ्गमें शरीरको सुखका साधक या बाधक माना जा सकता है, पर यहां तो अविकारी सुखकी बात कह रहे हैं। इस शरीरकी दृष्टि रखकर जीव अविकारी सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है। शरीरके प्रतिबंधमें रहकर यह जीव जब तक शरीरका व्यामोह रख रहा है तब तक वह दुःखका ही कारण है। शरीर स्वयं अपनी ओरसे आत्माको न सुखका कारण बनता है न दुःख का कारण बनता है। यह तो व्यामोहवश उसे दुःखका साधन बनाये जा रहा है और जब भी मोहवश शरीर को सुखका साधन बनाते हैं तो वह सुख वास्तविक सुख नहीं है किन्तु अनित्य पराधीन असार कल्पनाशक्रा सुख है। वैषयिक सुखके द्वारा फिर उस स्वभावका प्रतिबंध हो ही रहा है। वह आनन्द स्वभाव परिणामनके रूपमें अविकार रूपसे प्रकट

हो और उसे वैषयिक सुख बीब दे यह बात ज़रूर युक्त नहीं है और पह भी युक्त नहीं है कि एक साथ दो सुखोंकी उपलब्धि हो जाय। शरिकार आनन्दका अनुभव भी किया जा रहा हो और वैषयिक सुख ना भी अनुभव किया जा रहा हो ये दो बातें एह साथ सम्भव नहीं हैं, लेकिन उस आनन्द स्वभावमें जो अविकार आनन्दरूपसे प्रकट होनेकी योग्यता है उस व्यञ्जक आनन्दका तो वैषयिक सुखने घात ही किया है अतएव इस आत्माका स्वभाव आनन्द मानता और उस आनन्द स्वभावका, आनन्द गुणका विकृत और अविकृत परिणामन मानता और जब तक विकृत परिणामन है, संसार है और जब अविकारी अनन्त विशुद्ध परिणाम होता है तब मोक्ष है ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। और ऐसे अनन्दव्यञ्जक आत्मारी परिणामन नहीं हो सक रहा है। अविकारी परिणामन और सविकारी परिणामन परस्पर विरोधी हैं। तो विकार परिणामन कालमें अविकारी आनन्द परिणामन नहीं होता, इसीके मायने हैं प्रतिबन्ध।

विषय व्यासंगसे नित्यसुखके प्रतिबन्धकी सिद्धिका प्रयास - आनन्द-स्वरूप आत्माके नित्यानित्यस्वरूपको न मानकर भास्करीय सिद्धान्ती तुः कह रहा है कि नहीं, संसार अत्याख्यामें बाह्यविषयोंका व्यासंग बना हुआ है अर्थात् विषयोंकी प्रदृश्टि बन हुई है, उस विषयकी प्रदृश्टिके कारण वह नित्य सुख विद्यमान भी है तो जो उसके अनुभवका ज्ञान नहीं हो सक रहा, उस नित्य सुखका सम्बेदन नहीं हो रहा है, और जब बहुत्य विषयोंकी प्रदृश्टि समाप्त हो जाती है तब मोक्ष व्यवस्थामें उस नित्य सुखका सम्बेदन हुआ करता है। यहीं आत्माके सुख स्वभावले नित्य अपरिणामी एक स्वरूप जिस ढंगसे है उसी ढंगका निरन्तर रहने वाला मानकर यह सिद्ध किया जा रहा है कि वह नित्य सुख सदा ही विद्यमान है। उसमें योग्यता और व्यक्ति का कोई प्रश्न नहीं है। पर नित्य सुख विद्यमान होकर भी भुक्त जीवोंके वह सुख इस कारण प्रकट है, उस नित्य सुखका इस कारण सम्बेदन हो रहा है कि अब उनके शरीर नहीं है, इन्द्रिय नहीं है नो वे बहुत्य विषयोंमें क्या लगें? कौसे प्रब्रह्म हो? तो बहुत्य विषयोंमें प्रदृश्टि न होनेसे भुक्त जीवोंमें तो उस नित्य सुखका संबेदन हो रहा है, किन्तु संसारी जीवोंमें बाह्य विषयोंका व्यासंग होनेसे, सम्पर्क होनेसे, लगाव होनेन उसको विद्यमान भी नित्य सुखका सम्बेदन नहीं होता।

विशेषवादी द्वारा विषयव्यासंगसे नित्यसुखका प्रतिबन्ध न होनेका कथन - विषय व्यासंगसे नित्य सुख के घातकी बातका वैशेषिक उत्तर देते हैं कि भाई नित्यसुख तो सदा है और नित्यसुखका अनुभव भी सदा है क्योंकि वह सुख क्या जो सुख अनुभवमें न आए? सुख नाम तो तभी पड़ता है जब उसका परिज्ञान चल रहा हो, अनुभव चल रहा हो, भोगना हो रहा हो, अन्यथा सुखका अर्थ क्या? अर्थात्

ऐसे नित्य सुखका सम्बेदन भी जब नित्य है तो व्यासंग बन ही नहीं सकता, अर्थात् ये इन्द्रियाँ बाधा डाल दें, विषयोंमें लग बैठें प्रौर नित्य सुखका प्रतिबन्ध कर दें ऐसा प्रतिरोध बन नहीं सकता क्योंकि व्यासंग नाम है किसका व्यासंग क्या कहलाता है ? जैसे रूप विषयमें ज्ञानकी उत्पत्ति चल रही है, तो उस कालमें रस आदिकका ज्ञान नहीं हो रहा है इस हीका नाम व्यासंग है। जब रूप जान रहे तब रसका अनुभव नहीं, अब रसका अनुभव हो रहा तब रूपका ज्ञान नहीं। भले ही मोटे रूपमें ऐसा लगे कि जब कभी कोई बड़ी चीज जैसे मान लो तेलकी पकी हुई पपड़ियाँ पूरी ही मुँहमें देकर खा रहे हैं तो उस समय इकपका ज्ञान भी ही रहा है कि ये पीली पीली हैं। रसका भी ज्ञान ही रहा है और तेलकी गंधका भी ज्ञान ही रहा है, उसके चर्च-२ हीनेकी प्रावाज भी सुनाई दे रही है, प्रौर वह जितनी कड़ी है उसका कड़ापन भी जात हो रहा है, लेकिन वे सब ज्ञान एक साथमें नहीं हो रहे हैं। उपयोग अति देग-वान चक्रकी तरह ऐसा चलता है कि इन सब इन्द्रिय ज्ञानमें फिरता रहता है कि पता नहीं पड़ता कि इसमें कुछ समयका भेद हो गया है। जैसे ५० पान रखे हुए एकके ऊपर एक और उनको एक सुईसे बड़ी तेजीसे मारकर छेद दिया जाय तो वे पान एक साथ छिद जाते हैं, ऐसा मालूम पड़ता है ना, लेकिन वे एक साथ नहीं छिद रहे हैं। वह सुईकी नोक जब एक पानपर छेदने पहुँचती है उस समय दूसरे गान पर वह नहीं है। यों ही पचासों पान छिद रहे हैं बारी बारीसे कितु उनका पता नहीं पड़ता है। ऐसे ही भले ही रूप, रस आदिकके ज्ञानके बदलेमें हमें पता न पड़े लेकिन वे सब क्रमसे होते हैं। तो व्यासंगका अर्थ यह है कि जिस समय हम रूपका ज्ञान कर रहे हैं उस समय रसके ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो रही, यही व्यासंग है, पर ऐसा व्यासंग यहाँ नहीं बता सकता कि आत्म में नित्य सुख तो है पर जब वैष्णविक सुखका ज्ञान हो रहा है उस समय नित्य सुखका अनुभव नहीं आ सकता क्योंकि नित्य तो नित्य ही कहलाता है, उसे कौन व्यासंग करे, कौन उसका निरोध करे ? ऐसी ही बात इन्द्रिय की है। जब इन्द्रिय एक विषयमें ज्ञानजनक होकर प्रवृत्ति कर रही है अर्थात् जैसे चक्षु इन्द्रिय जिस समय रूपके ज्ञानके जनकरूपसे प्रवृत्ति नहीं कर रही, यही तो व्यासंग हुआ इद्रयका। यह भी नहीं बन सकता क्योंकि सुख भी आत्मामें सदा है तो उसकी तरह ज्ञान भी आत्मामें सदा है। ऐसा सुख बताओ कि सुख तो हो रहा पर न हर्ष है न अनुभव है, न ज्ञानमें है, न उसका कोई फल हो रहा, ऐसा सुख क्या होता होगा ? सुख तो वही है जिसका प्रयोग हो रहा हो, उपयोग हो रहा हो, अनुभव होता हो। तो आत्मामें नित्यसुख भी रहे और अनुभव न हो ऐसा कहां सम्भव है ?

नित्यसुखके विरोधक शरीरका घात करनेमें उपकारकताका विशेष-वादी द्वारा उपालम्भ - अभी वैशेषिक ही कहे जा रहे हैं वेदान्तीके प्रति कि आनन्द स्वरूप आत्माको नहीं मान सकते। आत्मा तो आनन्दज्ञान आदि सब गुणोंसे रहित है। यहाँ कह रहे हैं कि तुम्हारा यह कहना कि आत्मामें नित्यसुख तो सदा है पर

शरीरके कारण नित्यसुखका प्रतिबन्ध हो गया है वह प्रकट नहीं हो पा रहा तो फिर ऐसा शरीर मार डालना चाहिए। ऐसा शरीर तो शत्रु है जो आनन्दको नष्ट करे आनन्दको नष्ट करने वाले शरीरको यदि कोई घात कर दे तब तो उसे हिंसाका फल नहीं लगना चाहिए, किन्तु एक पुण्य होना चाहिए कि देखो इसने नित्यसुखका घात करने वाले इस शत्रु शरीरको बर्बाद कर दिया। इसे हिंसाका दोष क्यों कहा जाता है? जो प्रतिबन्धक त्रीज है, हमारा बिगड़ करने वाली है उसे यदि कोई बिगड़ दे तो हमें उसमें राजी होना चाहिए। यह संसारी जीवोंकी घात कही जा रही है। तो आत्मामें जो नित्यसुख भरा हुआ है उस सुखका प्रतिबन्ध किया है शरीरने तो शरीर के घातमें फिर हिंसा न लगना चाहिए बल्कि शरीरका घात करने वाला पुरुष तो उपकारक ही कहा जाना चाहिए।

नयवादसे आनन्दस्वरूप व उसके विकास तथा प्रतिबन्ध होनेका प्रति-पादन—अब वेदान्ती और वैशेषिकके शब्द समाधानके बाद स्थाद्वद्वादी कह रहे हैं कि वेदान्तवादियोंका कहना भी यह उचित है कि आनन्दस्वरूप है आत्माका, परन्तु यह इन्द्रियका व्यासंग लगनसे प्रकट नहीं हो रहा, लेकिन वह आनन्दस्वरूप है, स्वभाव दृष्टिसे नित्य है, पर वह एकरूप ही है जै। भी प्रकट हो, ऐसा अश्रिणामी नहीं है। उस आनन्द स्वभावका घात हो रहा इसका अर्थ यह है कि वह आनन्दस्वरूप अविकार आनन्दके रूपमें प्रकट नहीं हो रहा है इसका कारण यह है कि इन्द्रियजन्य सुखका व्यासंग लगा है लगाव लगा है। जब जब इन्द्रिय सुखका सम्बेदन चल रहा है तो उस विशुद्ध आनन्दका अनुभव कहांसे हो? तो आनन्दस्वभाव स्वभावरूपसे है, पर्याय रूपसे, अविकार एवं परसे नहीं है। पर्याय दृष्टिसे तो उस आनन्दस्वभावका इन्द्रिय सुख रूपमें विकारी परिणमन है और त्रिकार परिणमनके द्वारा अविकारी परिणमन का प्रतिबन्ध होता ही है, क्योंकि एक साथ विकार और अविकार दो परिणमन नहीं हो सकते। अब रही शरीरकी घात कि शरीरसे नित्यसुख प्रतिबन्धित होता है। तो गिर शरीर आनन्दके विशुद्ध परिणमनका न तो साधक है, न बाधक है जोवनभूत अवस्थाका शरीर देख लो। अरहत प्रभुका सकल परमात्माका शरीर होनेपर भी क्या उनके अनन्त आनन्दमें बाधा पड़ रही है। शरीरका तो आत्मगुणोंमें कुछ भी दबल नहीं है। यह आत्मा ही शरीरमें दृष्टि रखकर उसमें कल्पना करके अपने विकल्प बनाकर कभी सांसारिक सुखका अनुभव करता है कभी दुःखका अनुभव करता है। तो शरीर कभी दुःखका कारण बन जाता है और कभी सुखका कारण बन जाता है, लेकिन वास्तविक सहज विशुद्ध आनन्दका न तो शरीर कारण ही बनता है और न किसी सुख दुःख आदिकका ही कारण बनता है।

शरीरघातमें हिंसा न होनेके उपालम्भके सम्बन्धमें निर्णय—अब रही यह बोत कि जो यह कहा गया है कि नित्य सुखका घात करने वाले शरीरका नाश

करनेपर उसे उपकारी माना जाना चाहिये । यह बात यों युक्त नहीं है कि यह उपालम्भ तो उस प्रश्नकी तरह है जैसे कोई पूछे कि बताओ ये प्राण आत्मासे भिन्न हैं या अभिन्न ? कोई कहे कि प्राण आत्मासे जुदी चीज है तो किर प्राणोंको मिटा देने पर उसमें हिसाने लगनी चाहिए, क्योंकि आत्मा जुदा है प्राण जुदा है । प्राणोंको मिटा दिया, घात कर दिया तो आत्माका क्या विगड़ा ? और, कहेगे कि प्राण आत्मासे अभिन्न हैं तो वह कुछ भी चेष्टा कर डालें, भार डालें, आत्मा तो अमर है, प्राण अमर है, वे कभी नष्ट हो ही नहीं सकते । आत्माका कभी बिगड़ ही नहीं हो सकता, वाहे भले ही कुछ दीखे । यह उपालम्भ ठीक यों नहीं बैठता कि प्राण आत्मा से कथंचित् भिन्न हैं कथंचित् अभिन्न हैं । इस समय चूँकि यह जीव अपनी साधनामें अधूरा है, साधनासे चिल्कुन विमुख है, और मिली है इस जीवको यह पर्याय उत्तम कि यह माधवा कर सकता है और यह उस मोक्षमार्गके चिलिंगिलेमें संसारसे छुटकारा पानेके चिलिंगिलेमें कुछ बढ़ा चढ़ा हुआ है । एक अष्टिसे देखा जाय तो निगोदिया जीवोंसे पृथ्वी, काय आदिक स्थावर बढ़े चढ़े हैं, कुछ तो कठिन दुःखोंसे निकले हैं, एकेन्द्रियसे दोहिन्द्रिय कुछ आगे बढ़ गया है । वह अन्य तीन चार आदिक इन्द्रियोंके विकासमें अभी छोटा है, और यह संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य उन सब जीवोंसे बढ़ा हुआ है । यह अधूरी साधना वाला मनुष्य इस जीवनमें साधना कर रहा था, उसका घात कर दिया तो इसके मायने हैं कि उसको साधनासे बहिर्भूत कर दिया, तो अकल्याण कर दिया । दूनरे संक्लेश परिणाम सहित मर जानेके कारण वह कोई निम्न गति पायगा । तो शरीरका घात हिंसा है ही, और उग हिसाका फल भोगना पड़ता ही है । बात यहाँ सिद्धान्तको यह हुई कि आत्माका स्वभाव तो आनन्द है, पर उसकी व्यक्ति संसार ग्रस्त्वामें विकारी है, और जब विषय-व्यासङ्ग हट जायगा तो इस ही आनन्दका अविकार परिणाम हो जायगा । बस आनन्दस्वरूपकी अविकार अनन्त अमीम अभिव्यक्ति हो जानेका नाम ही मोक्ष है ।

नित्यसुखके संवेदनके कारणोंका प्रश्न - आत्माका नित्य सुख स्वधाव माननेपर जो वैशेषिक द्वारा उपालम्भ दिया गया है कि फिर तो मुक्त जीव और संसारी जीवोंमें अन्तर न रहेगा । संसारी जीवोंको किर स्मरण न हुआ करेगा, संस्कार न बनेगा । इंद्रियजन्य सुख और नित्य सुख दोनोंकी एक साथ उपलब्ध होने लगेगी, उन शङ्काश्रोंको दूर करनेके लिए यदि उस नित्य सुखके संवेदनको अनित्य स्वीकार किया जाय कि भाई ! सुख तो है नित्य, यगर उसका हर समय सम्वेदन नहीं चलता, सम्वेदन मायने जानानुभव । उसका अनुभव कभी चलता कभी नहीं । वह सम्वेदन अनित्य है, तो इसपर सम्वेदनकी उत्पत्तिका कारण बताना चाहिये । जो चीज अनित्य होती है वह किसी कारणसे उत्पन्न होती है तभी तो अनित्य है । जो किसी कारण बिना है वह अनित्य कैसे कहला सके ? जितने भी कार्य होते हैं वृप्तपादिक, सबके कारण होते हैं तब उनकी उत्तरति है । जैसे घड़ा बना तो घड़ेल्प कार्यका

समवायि कारण तो मिट्टी है। जो कारणकार्य रूप बने उसे समवायि कारण कहते हैं, कोई लोग उपादान कारण भी कहते हैं। और, साथ जो पानीका सम्बन्ध है वह है असमवायि कारण। फिर जो कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिक अनेक कारण पड़े हैं, जो उस घड़ेसे भिन्न ही रहेंगे वे हैं सहकारी कारण। तो समवायिकारण, असमवायि कारण, सहकारी कारण, इन तीन कारणोंका सञ्चिकान होनेपर कार्य बनता है। यदि आत्माके नित्य सुखका परिक्षान अनित्य माना जाय तो अनित्य चीज कारणसे ही उत्पन्न होती है तो उस नित्य सुखके ज्ञानोत्पत्ति होनेका कारण क्या है? नित्यसुख का ज्ञान संसारी जीवोंमें तो माना नहीं, मुक्त जीवोंमें माना है। तो उसीसे पूछा जा रहा है कि मुक्त जीवोंको जो नित्य सुखका सम्बद्धन हो रहा है उसका कारण क्या है?

नित्यसुखके संबंधनकी उत्पत्तिके कारणोंका कथन—अब यहां वेदान्ती उक्त प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं कि मुक्त जीवोंको जो सुखका अनुभव हो रहा है उसमें समवायि कारण तो उनको आत्मा है और असमवायि कारण आत्मा और मनका संयोग है। सहकारी तपश्चरण आदिक और कर्मोंका क्षय आदिक ये सहकारी कारण हैं। इस प्रसङ्गमें प्रतिद्वं उपादान निमित्त कारणसे एक अतिरिक्त असमवायि कारण उसे समझिये जिसमें कार्य उत्पन्न होता है वह तो है समवायि कारण, जिसे उपादान कारण कहते हैं और जितने निमित्त कारण है जो उस उपादानमें न थे न रहेंगे, जो कार्यसे पहिले भी उपादानमें न थे न रहेंगे। कार्य होनेके बाद भी उपादानमें न रहेंगे वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं। ये दो बातें तो स्पष्ट हैं, सभी लोग मानते हैं, पर एक तीसरी चीज है असमवायि कारण। असमवायि कारणमें एक ऐसी दूसरी चीजका सम्बन्ध बताया गया है जो उस उपादानके साथ जुटाये रहे प्रथवा ऐसा भाव कि जो कहतेको तो पररूपसा है मगर है एक आवात्मक, वह असमवायि कारण होता है। जैसे कपड़ा बुना गया तो कपड़ेका समवायि कारण तो सूत है और असमवायि कारण उन अनेक तन्तुवोंका संयोग है और निमित्तकारण जुलाहा आदिक हैं। तो यहीं वेदान्ती उत्तर दे रहे हैं कि योगज धर्मकी प्रपेक्षा रखकर जो आत्मा और मन का संयोग है वह असमवायि कारण मौजूद है अतएव निरात्मर मुक्त जीवोंके नित्य सुखका अनुभव होता रहता है।

नित्यसुखके अनित्यसंबंधनके कारणोंका निराकरण इसके उत्तरके सम्बन्धमें वैचेषिक कहते हैं कि अब मुक्त अवस्थामें योगज धर्म कहा जाता है योगसे उत्पन्न हुआ धर्म। योग मायने समाधि, तपश्चरण, साधना। जो साधुजन आंतरिक कार्य करते हैं उसकानाम है योग और उस योगसे जो एक प्रभाव उत्पन्न होता है उसकी श्रेष्ठी रखकर आत्मा और मनका संयोग होता है मुक्त अवस्थामें, उसे कहते हैं असमवायिय कारण, लेकिन वहाँ योगज धर्मका सम्बन्ध नहीं। वे तो मुक्त हो गए। अब कहां समाधि, कहाँ तपश्चरण? इससे तो वे परे हो गए। फिर संयोग योगज

धर्म की अपेक्षा क्या रखेगा ? इसलिए यह असमवाये कारण नहीं बन सकता है और न नित्य मुखकी उत्पत्ति हो सकती है। यहां चर्चा यह चल रही है कि नित्यमुख आगर जीवमें है तो फिर संसारियोंको क्यों अनुभव नहीं होता । मुक्त जीवोंको ही क्यों उस अनन्त मुखका अनुभव होता है ? उसके उत्तरमें यह कहा जा रहा है कि मुख तो नित्य है, उसमें दो राय नहीं हैं, पर मुखका सम्बेदन अनित्य है जब उस मुखका अनुभव हा तो मुखानुभव हो । जब मुखका ज्ञान नहीं कर रहे तो नहीं है मुख । तो अनित्य सम्बेदन माननेपर प्रश्न यह किया गया कि उत्पन्न कैँ हुआ ? योगज धर्मकी अपेक्षा रखकर आत्मा और मनका सम्बन्ध तो बन नहीं सकता ।

मुक्तिमें नित्यमुखके अनित्य संबेदनके उत्पत्ति कारणोंके सिद्ध करनेका प्रयास—अब भास्करीय वेदान्ती कह रहे हैं कि ऐसा है कि मुक्त अवस्थामें तो योगज धर्म सम्भव नहीं है, अर्थात् उत्पन्नबरण निविकल्प यमाधि ये तो सम्भव अब मुक्तमें नहीं रहे, लेकिन पहिले जो नित्य मुख सम्बेदन हुआ, वह योगज धर्मकी अपेक्षा रखकर मन के संयोगसे उत्पन्न हुआ [श्रीरामकृष्ण-फिर-उसके बाद जो उत्तरोत्तर मुखका सम्बेदन है वह योगज धर्मकी अपेक्षा रखे ही बिना केवल आत्मा और मनके संयोगसे होता रहता है]। इसे थोड़ा कुछ एक स्याद्वादके हृष्टांतसे समझ लो । जैसे कहा गया है कि केवलज्ञान एकत्व वित्कं अवीचार शुक्ल ध्यानके प्रतापसे होता है या कर्मोंके क्षयसे होता है । ज्ञानावरणका क्षय होनेसे केवलज्ञान होता है, यह तो निमित्त दृष्टिसे कथन है और भी उत्तरमें देखनेसे यह कहा जायगा कि एकत्व वित्कं अवीचार नामक शुक्ल ध्यानके बलसे उन्हें केवलज्ञान होता है तो कोई यों पूछ बैठे कि अब भगवानसिद्धक एकत्ववित्कं अवीचार कहां रखा है किर वहां केवलज्ञान कैसे हो रहा है । अथवा अब कर्मोंका क्षय कहां हो रहा है, केवलज्ञान कैसे हो । तो जैसे उस सम्बन्धमें उत्तर हो सकता है कि प्रथम समयका जो केवलज्ञान है वह द्वितीय शुक्ल ध्यानके प्रतापसे हुआ, ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे हुआ लेकिन अब जितने केवल ज्ञान चल रहे हैं, अनन्तकाल तक केवलज्ञानकी वर्तना चलती रहती है, प्रतिसमय नवीन-नवीन ज्ञानोपयोग शुद्ध जो चलता रहेगा अब वह अपने ही पूर्ण सामर्थ्यसे चलता रहेगा । वहां कुछ योगज धर्मकी द्वितीय शुक्ल ध्यानकी आवश्यकता नहीं रहती है, इसी तरहसे हम (भास्करीय) कह रहे हैं कि प्रथम जो नित्यमुखका सम्बेदन है वह तो योगज धर्मकी अपेक्षा रखकर आत्मा और मनके संयोगसे हुआ लेकिन बादका जो मुख सम्बेदन है वह पूर्व विज्ञानकी अपेक्षा रखकर जो [पूर्व ज्ञानका सम्बेदन हो रहा है वह उत्तरोत्तर आगे आगे सुख सम्बेदनको उत्पन्न करता है] ।

शारीरसम्बन्ध विना आत्मामें मनके संयोगकी असिद्धि—वैशेषिक कहते हैं कि यह बात भी अयुक्त है, क्योंकि जब शारीरका सम्बन्ध नहीं रहा तब फिर कैनका

संयोग कैसे होगा ? शरीरके सम्बन्धके बिना मनके संयोग तो शरीरके सम्बन्धके बिना मनके संयोगमें ज्ञानकी उत्पत्तिकी सहकारिता नहीं हो सकती । देखो भैया ! ऐसा भी यहां मन्तव्य किया जा रहा है कि मुक्त अवस्थामें भी मनका सम्बन्ध बना है तब सुखका सम्बेदन हो रहा है और शरीर नहीं रहा । कुछ मिद्दान्तवादी मनको अलग द्रव्य मानते हैं आत्माको अलग द्रव्य मानते हैं और शरीरको भौतिक पदार्थ मानते हैं, ये तीन स्व-तत्र स्वतंत्र चीजें हैं, श्रगर किसीका शरीर न रहा तो अब मनका और आत्माका सम्बन्ध तो बन ही रहा, लेकिन यहां एक प्रतिज्ञाकामे कहा जा रहा है कि शरीरके सम्बन्धके बिना ग्रगर मन और आत्माका संयोग भी रहा आये तो वह विज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता । जैसे कि यहां हम आप भौगोलिके शरीरका सम्बन्ध है तभी मन और अत्माके संयोगसे ज्ञान उत्पन्न हो रहा है । देखो हुई बातसे उल्टी बात कल्पनामें नहीं आ सकती है अन्यथा बहुतसे दोष हो जायेगे । और देखिये—आकस्मिककार्य कभी होता नहीं तो नित्य सुखका सम्बेदन यदि कार्य है तो उसका कारण बताना चाहिये । कारण कुछ बन नहीं रहा इसलिए यह कहना भी अयुक्त है कि आत्मामें नित्य सुख तो है किन्तु उसका संबेदन अनित्य है, इस कारण संसारों जीवोंमें सदा नित्यसुख सम्भव नहीं है ।

आनन्दस्वरूप और उसके विकासका प्रतिपादन - अब वेदान्ती और वैशेषिकोंके प्रश्नोत्तरके बाद इस सम्बन्धमें स्थानादके सिद्धान्तसे भी विनार सुनो । आत्मा ज्ञानानन्द स्वभावी है । तो वस्तुतः जैसे आ काशद्रव्यहीं अपना परिणामन करने के लिए किसीकी अपेक्षाकी जल्दत नहीं रहती, एक कालद्रव्य मात्र कारण रहता है इसी प्रकार आत्माको भी अपना ज्ञानानन्दरूप परिणामन करनेके लिए किसी अन्यकी अपेक्षा न रहना चाहिए । केवल एक ज्ञान द्रव्य निमित्त मात्र रहता और आत्मा अपने विशुद्ध परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दसे परिणाम रहा करता लेकिन आनादिसे यह आत्मा विभावबद्ध है, कर्मबद्ध है, शरीरबद्ध है, ऐसी स्थितिमें इस आत्माने अपनी योग्यतासे अपनी शक्तिसे अपने आप अपने ज्ञानानन्दका धात किया है । और, इस हालतमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा करके ही ज्ञानका और आनन्दका विकास हो रहा है । हम जितना आनन्द पाते हैं आजकल, यह किसी इन्द्रियके विषयके सामनसे सेवनसे या मनकी कल्पनामें, यश कीँ आदिककी बात सोचनेसे हम सुखका अनुभव करते हैं तो यहां इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा हो गई । उसका निमित्त पाकर ये सुखके विकास हो रहे हैं इसी प्रकार यह ज्ञान भी है । हम जितने में ज्ञान कर पाते हैं तो किसी इन्द्रियसे ज्ञान करते हैं, मनसे ज्ञान करते हैं तो यहां इन्द्रिय मन सापेक्ष यह ज्ञानोत्पत्ति है । ऐसे ही इन्द्रियमन सापेक्ष सुखोत्पत्ति है । लेकिन उस स्वभावको न भूलें, उस सहजकला को न भूलें कि जैसे आकाशद्रव्य अपना परिणामन करनेमें किसी भी परद्रव्यकी अपेक्षा नहीं रखता, इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने ज्ञान और आनन्दके परिपूर्ण विकास परिणामन करनेमें किसीकी अपेक्षा नहीं रखता । तथापि संसार अवस्थामें तो वह परिस्थिति नहीं सम्भव है इसी कारण यहां उस अनन्त आनन्दका अनुभव नहीं हो

रहा और अनन्त ज्ञानका अनुभव नहीं हो रहा। जहाँ यह व्यासंग मिट जाता है कि ये इन्द्रिय मनकी उपेक्षा करना ये समस्त विश्वतायें समाप्त हो जाती हैं। तब यह आत्मा अपने आपके उस निरपेक्ष ज्ञानानन्द स्वभावका आश्रय करके उपासना करके ज्ञानानन्दमात्र में है, ऐसा विकल्प न करके केवल ज्ञानानन्दरूप अनुभवन करता है सो उस ज्ञानकी विगुण्डि बढ़नेपर ये कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं। ये आशा, तृष्णा, आधीनतायें, कल्पनायें, प्रतीक्षायें ये सब समाप्त होती हैं उस समय इसको जो ज्ञान उत्पन्न होता है या ज्ञान विकसित रहता है, आनन्द विकसित होता है वह निरपेक्ष है। ऐसा है मुक्त जीवका ज्ञान और आनन्द। इस मुक्त अवस्था होनेपर भी वहाँ सदृश परिणामन तो चल रहा है पर यह नहीं है कि वहाँ भी वह ज्ञान और आनन्दगुण कूटस्थ नित्य हो गया हो। कूटस्थ नित्यका कुछ सत्त्व हो नहीं है। मुक्त अवस्थामें अवक्तव्य निविकल। अपरिवर्तनीय जिसमें विपद्धताका कुछ अंश भी जाहिर नहीं हो सकता ऐसा परिणामन चल रहा है, इस प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप है और उस आनन्द नो परम अभिभवक्ति होनेका नाम मोक्ष है, ऐसा जो कथन है वह युक्त है पर उस आनन्दस्वरूपको भी कूटस्थ अपरिणामी मान लेनेपर कुछ बात नहीं बन पाती है। वहाँ मुक्त अवस्थामें उस सुखकी उत्पत्ति होनेका असमर्थिय कारण बताना यह अब वहाँ युक्त नहीं है। आत्माको कैवल्य प्राप्त होता है, कैवल्यका अर्थ है जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा रहे, वहाँ मनका सम्बन्ध नहीं रहता, तो नित्य आनन्द स्वभाव है आत्माका, पर उस स्वभावका संसार अवस्थामें विकृत परिणाम हो रहा है, अविकार परिणामन तो वस्तुके स्वरूपकी निजी बात है। उसके ही सत्त्वके कारण उसके अविकार परिणामन होते ही रहना चाहिए।

आत्मस्वरूपके वर्णनका अर्थसंसिद्धिसे सम्बन्ध -- इस ग्रन्थमें जो यह प्रसङ्ग चल रहा है इस प्रसङ्गको बतानेका मुख्य ध्येय इस ग्रंथराजका नहीं है लेकिन सम्बन्धित है। इस ग्रन्थमें यह संकलन किया गया कि जूँकि अर्थकी विद्धि वस्तु स्वरूप का ज्ञान आत्माके प्रयोजनकी सिद्धि प्रमाणासे हो सकती है। प्रमाण मायने सम्बन्धज्ञान यथार्थ ज्ञान हो तो आत्मारे प्रयोजनकी सिद्धि होगी वस्तुके स्वरूपका सही निरण्य होगा। प्रयोजन स्याहै ? जब वस्तुका सही निरण्य हो गया कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र तब परमें स्वामित्ववृद्धि नहीं रहती। देखिये पदार्थ है क्या कितना ? एक पदार्थ उतने का नाम है कि एक परिणामन जितने पूरमें रहे और जिसके बाहर न रहे। जैसे आत्मा के जो ज्ञान परिणामन चल रहे सो कहीं ऐसा नहीं है कि एक दिमाग और मस्तिष्ककी जगह ज्ञान परिणामन चल रहा और शेष जो आत्म प्रदेश हैं असंख्याते, वहाँ ज्ञान परिणामन नहीं है। ऐसे ही जब कुछ सुखका अनुभव होता है तो ऐसा नहीं होता कि ग्रंथका अनुभव यहाँ दिलमें इस ही जगह चल रहा है और बाकी जो आत्मप्रभे सुख परिणामन नहीं चल रहा है। जब जो कुछ भी ज्ञान होता है स है। जब जो भी सुख होता है समूचे आत्मामें होता है। आत्मा वहाँ :

नहीं है, वह तो एक है। व्यवहारसे बड़े चौड़े की दृष्टि करनी पड़ती है वहाँ तो इस ज्ञानपुर्ज आत्माको देखो तो समूचा ही जितना कि विस्तार बताया है, सारेमें एक अखण्डता है। कपड़ेकी तरह लम्बा चौड़ा नहीं है आत्मा, किन्तु एक आकाशकी भाँति लम्बा चौड़ा है। फर्क इतना है कि आकाश अनीम है। इसका अर्थ यह है कि करड़ा लम्बा चौड़ा है उसका तो अंश करके अनग बताया जा सकता है फाड़ करके एक एक तन्तु न्यारा करके बताया जा सकता है कि लो यह है इतना बड़ा कपड़ा और उसके कई टुकड़े किए जा सकते हैं, पर जैसे आकाशके टुकड़े नहीं किए जा सकते, अलग अलग करके नहीं बताए जा सकते इसी प्रकार यह आत्मा है, इसके अंश नहीं किए जा सकते हैं। असंख्यात प्रदेश क्या है? वह तो एक अखण्ड है, उसमें स्थान नहीं है, असंख्यात अंश नहीं हैं, लेकिन जैसे एक आकाश अखण्ड होकर भी हम उपको एक एक प्रदेशकी मापसे अनन्त प्रदेशी मानते हैं इसी प्रकार अखण्ड आत्मामें एक एक प्रदेशकी मापसे हम उपमें असंख्यात प्रदेश मानते हैं लेकिन वस्तुतः वह अखण्ड है।

निमित्त कारणके लगावमें ज्ञान और सुखके स्थानकी दृष्टि आर यहाँ पूछ सकते हैं कि अनुभव तो ऐसा ही होता है कि जब कोई चीज भून जाते हैं, उसका हम स्मरण करते बैठते हैं तो दिमागरर जोर लगाते हैं और जब उसका ख्याल होता है तो ऐसा लगता है कि इस दिमागसे ख्याल आया और इस दिम गसे जाना, इतनी जगहमें जाना। इसी प्रकार जब किसी अच्छे प्रश्नमें या वैधिक प्रसंग में सुखका अनुभव होता है या किसी आपत्तिमें दुःखका अनुभव होता है। यह अनुभव करते हैं यहाँ छातीके सीधपर भीतर जो दिल है उस दिलमें सुख हुआ है, उस दिलको दुःख हुआ है और तब सुख होनेपर दिलको राजी करके दिलको स्वतन्त्र और एक खुला हुआ सा अनुभव करते हैं, और जब दुःख होता है तो दिलको दबाते हैं। दुःख होता है तो दुःखका अनुभव दिल हीमें तो होता। इसका उत्तर है कि वस्तुतः अनुभव तो होता है समूचे आत्मामें, पर इस सर्वनवद्ध अवस्थामें जूँ कि उस ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण ये इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियज जमघट ये सिरभागमें हैं और इसी ही जगह पौदगालिक कुछ रचना विशिष्ट है जिससे मनका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। तो उत्पत्ति कारण की अपेक्षासे यह परिज्ञान होता है कि हमारे दिमागने जाना यहाँ ज्ञान हुआ। ज्ञान हुआ सर्वत्र मगर उत्पत्ति कारणकी प्रधानतासे लोग ऐसा निश्चय करते हैं क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न करनेके लिए कारण जुड़ा चाहिए ना, तो कारणर दृष्टि पहुँची है और कारणपर लक्ष्य और दृष्टि पहुँचनेके कारण फिर जीवोंका ऐसा संस्कार बन जाता, उपयोग वहाँ लग बैठता, क्योंकि कारणपर उपयोग लगनेकी बात तो प्रकृत है तो ऐसा अनुभव हुआ करता है वस्तुतः ज्ञानका अनुभव सर्वत्र आत्मामें है। इसी प्रकार सुख दुःखकी बात है।

उदाहरणपूर्वक अखण्ड आत्मामें सर्वत्र संवेदनकी सिद्धि—जब कभी

हाथमें फुंसी हो गई बड़ी हो गई, तो उस समय यह मनुष्य दुःखका अनुभव करता है तो वह दुःख उस हाथकी उतनी जाहमें नहीं हुआ किंतु दुःख हुआ करता है समूचे आत्मापे । लेकिन समूचे आत्मामें सुधे दुःख है ऐसा यह दुःखी पुरुष खगल यों नहीं बनाता ? उसका खगल यों नहीं बन सकता कि प्रथम तो उसे आत्माका ही बोध नहीं है, वह अपने चैतन्यस्वरूपकी बात क्या सोचे ? दूसरी बात यह है कि जो दुःख हुआ है उस दुःखकी उत्पत्तिका निमित्त कारण तो वह हाथकी फुंसी है जिसके कारण वह दुःख चल उठा, जिसके निमित्तको पाकर ऐसा दुःख उत्पन्न हुआ है तो लोगोंकी दृष्टि उस दुःख के कारणपर विशेष रहती है । जैसे किसी आदमीकी बजहसे दुःख हुआ । मान लीजिए कोई विरोधी है और उसके बतावसे दुःख हुआ तो इस दुःखीकी दृष्टि उस विरोधीपर बनी रहती है और वह यह अनुभव नहीं करता है कि यह दुःख तो कलना भावके कारण मेरेमें हुआ है, तो विरोधीसे पुक्षे दुःख नहीं हुआ है, एकदम विरोधी ही उसकी दृष्टिमें रहनेके कारण यही खगल बना रहता है कि इस विरोधीने मुझे कितनी विपत्ति पहुँचाई । तो यह बतलावो कि जहाँ विलकुल पृथक क्षेत्रमें वह विरोधी रहता है, वह अपने गांवका भी चाहे न हो, किसी अन्य गांवमें चाहे, वह रहता हो, उसके द्वारा आपको दुःख पहुँचे यह कहाँ सम्भव हो मुकदा है, पर उसीपर ध्यान रहता है कि इसके द्वारा मुझे दुःख हुआ, यह मेरा विरोधी है । इसी प्रकारसे समझ लो इस शरीरमें यह जीव रह रहा है और फोड़ा फुन्दी आदिक रूप ऐसा परिणामन हुआ है जहाँ एक क्षेत्रावगाह आत्मा है और निमित्त नैमित्तिक केवल संवंध है तब इस फोड़ा फुन्दी सोपर ही उसका ध्यान बना रहता है । और ऐसा खगल करता कि मुझे दुःख यहाँसे हुआ है, ऐसी एक कुटेब संसारी जीवोंकी रहती है, पर वस्तुतः जो भी इस जीवको सुख दुःखका अनुभवन होता है वह इस आत्मामें सर्वत्र होता है ।

प्रमाणस्वरूपनिरूपणके प्रकरणमें प्रासङ्गिक चर्चायें—आत्मा तो ज्ञानानन्दस्वभावसे परिपूर्ण है उसमें किसी सी प्रारकी आपत्तियाँ नहीं हैं । इस प्रकार अपनी समृद्धिका परिचय इन जीवोंको नहीं है सो ये बाहु प्रसङ्गोंको ही निरलकर बैचैन रहा करते हैं । वस्तुतः तो इस आत्मामें घपने ज्ञान और आनन्दके विशुद्ध परिपूर्ण अनुभवन करनेके लिए किसी भी प्रन्यकी अपेक्षा नहीं है । अब भी जब कभी अपने इस विशुद्ध स्वरूपपर खगल बनाकर अपने आपको निरखा जाता है तो वहाँ दुःखकी कुछ भी बात नहीं है । ऐसी हितकी प्राप्तिकी बात सम्यग्ज्ञानसे विलती है । इसलिए सम्यग्ज्ञानके वर्णनकी यहीं प्रतिज्ञा की है, ज्ञानका स्वरूप यहीं बताया जा रहा है । ज्ञान दो प्रकारका है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष ! प्रत्यक्ष ज्ञान निरावरण होता है । निरावरणकी बात धुनकर ईश्वरवादियोंने कहा कि ज्ञान निरावरण होकर प्रत्यक्ष हो सो नहीं, किन्तु ज्ञानादिमुक्त ईश्वरका ज्ञान ज्ञानादिनिरावरण स्वयम् प्रत्यक्ष है, इसकी सिद्धिके लिये कर्तव्यन बताया तो प्रकृतिवादीने कहा कि नहीं, ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, प्रकृतिपर आवरण है । प्रकृति सर्वज्ञ होती है । इसपर कुछ बात

चलनेपर जब प्रत्यक्ष ज्ञानके सही स्वरूपपर सहमत होते हैं उस गोष्ठीके बिंदन् लोग, तो उसमें एक कह उठा कि यह ठीक है, निरावरण ज्ञान है और योगी सर्वं होजाना है, पर सर्वं होनेके बाद वह भोजा किया करता है, उनसे निराटनेके बाद किर अंतमें मोक्षके कारणपर विवाद चल जाता कि गोक्षना स्वरूप अनन्त चतुष्टय नहीं है, किन्तु गुणाच्छेद है। इसपर भास्करीय वेदांगी मोक्षका स्वरूप यह रख रहे हैं कि आनन्द है ब्रह्माका स्वरूप और आनन्दकी जो अभिश्वकि है उसका नाम है मोक्ष। इस प्रकार उस प्रमाणके स्वरूपका कथन चलते रहनेके बीच यह प्रसङ्ग चल गया है जिसमें मोक्ष के स्वरूपका इस समय विवाद उठ खड़ा हुआ है।

मोक्षके स्वरूपका परिज्ञान और मोक्षकी प्रतीक्षा—आत्माका मर्वाच्च हित मोक्षमें ही है। जन्म-मरण राग द्वेष इसके आवरक हैं इन सबका वियोग होने पर जो आत्मामें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दका विकास होता है वह उस स्थितिमें हम आरकी भलाई है, उनसे पहलेकी जितनी ये संसारकी स्थितियाँ हैं इन स्थितियोंमें भलाईका नाम नहीं है। मोक्षमें विस्तृत कर करके अनेक रूपाल ही ख्याल बनाये जा रहे हैं पर उनसे इन आत्माको कुछ भी मिलनेका नहीं है, हैरानी ही भोग रहे हैं। तो हित तो मोक्ष व्यवधारणामें है। तो हमें मोक्षके स्वरूपका निर्णय करना चाहिए और मोक्षका स्वरूप जानकर उसकी बाट जोहना चाहिए। जैसे जिस पुष्पसे अनुराग होता है तो उसकी बाट जोहते हैं ना, कब आयगा ? कब मिलेगा ? ऐसे ही मोक्षसे यदि हित समझा है तो उसकी भी बाट जोहना चाहिये ! हमने उस मोक्षको पानेका कितना उपाय बना लिया है अभी कितने उपर्योक्ती कमी है, यह बात इगानमें हो तो मोक्षकी बाट जोहना सम्भव है। विकल्प मोह जालमें ही लगे हैं और कल्पनासे मान लिया कि हमने धर्म कर लिया स्वाध्याय, पूजा गाठ, धर्मच चौंदि सब कर लिए तो उससे वही आप धार्मिक बन गए, ऐसी बात नहीं है। लोगों में कुछ अपनी पोजीशन बनाये रखनेके लिए, दूरपरोंपर ऐहान लादनेके लिए यदि धार्मिक क्रियाकाण्ड किए जा रहे हैं तो उससे इस आत्माका कुछ भी भला नहीं होने का। अपने आत्माका भला तो तब होगा जबकि अपने आपके स्वरूपमें ही अनन्तप्रवेश करते हुए, वहाँकी ही समस्त गुणमयुद्धियोंको देखता हुआ तृषु रहे। उस ही स्थितिमें समझिये कि हम मोक्षके उपायमें जल रहे हैं नहीं तो जैसे अनन्त भव व्यर्थमें विता दिए वैसे ही एक यह भी भव व्यर्थमें व्यतीत हो जायगा, लाभ कुछ न हो सकेगा।

अनन्तचतुष्टयलाभस्वरूप मोक्षके विरुद्ध दो दार्शनिकोंके मन्तव्य—भैया ! हित है मोक्षमें, अतः मोक्षके स्वरूपका निर्णय करना चाहिए। यों तो थोड़े समयमें मोक्षका स्वरूप जो च है कह दे, किन्तु दार्शनिक क्षेत्रमें जब बड़ो युक्तियाँ की जाती हैं तो उस समय उन नवके मर्वोंको जानकर जो स्वरूपका निर्णय होता है वह एक विशिष्ट निर्णय होता है। सिद्धान्तमें तो मोक्षका स्वरूप यह है कि अनन्त ज्ञान

दर्शन शक्ति आनन्द आदिक अनन्त चतुष्प्रयोका लाभ होना । पर इसके विरुद्ध अनेक दार्शनिक अपने मंतव्य रखते हैं । पहले तो वैशेषिकोंने यह कहा जिनको कि कुछ भी स्वरूपमें फर्क मालूम पड़े, कहनेसे, संज्ञासे भी, तो भी भेद करनेकी रुचि होती है, ऐसे वैशेषिक लोगोंने मोक्षका स्वरूप यह बताया था कि आत्मामेंसे ज्ञानादिक गुण सब खत्म हो जायें तो उसका नाम मोक्ष है । जब तक आत्मामें गुणोंका सम्बन्ध है तब तक यह जीव संसारी है । प्रतिद्वं भी ऐसी कर रखी है कि निर्गुण परमात्मा होता है उसी सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया है । इतनेमें भास्करीय वेदान्ती अपना दर्शन रखने लगे कि नहीं, गुणोंन्वेदका नाम मुक्ति नहीं है किंतु आत्माका नित्यसुख स्वभाव है, आनन्दरूप है, ब्रह्मका आनन्दस्वरूप है, उस आनन्दस्वरूपका प्रकाश हो जाना, उसकी अभिव्यक्ति हो जाना इनका नाम मोक्ष है । अब सुननेमें तो अच्छा लग रहा है, कोई खिलाफ बात तो नहीं कही जा रखी है, ठीक ही वह भास्करीय वेदान्ती कह रहा है । लेकिन मंतव्यमें यदि यह पड़ा हुआ हो कि आत्माका वह आनन्दस्वरूप नित्य है, अपरिणामी है, उसकी कुछ अवस्था नहीं, कोई रूप ढङ्ग नहीं, वह तो एक आनन्द आनन्दस्वरूप है, सो ऐसे इस वेदान्तीके प्रति इस समय वैशेषिक हों कह रहे हैं ।

नित्यसुखके सम्बन्धमें वैशेषिकोंका कथन - अनेक दोषापत्ति बतानेके बाद भी यह टेक रखी जा रही है कि भूक्त अवस्थामें तो नित्यसुख ही है । यहाँ अनित्य सुखका उत्तरवाच करके नित्यसुखकी जो कल्पना की है तो जब कल्पनाओंसे ही सब मत बन जाता है तो नित्यात्वधर्मका अधिकरण शरीरादिक भी मान लिया जाय अर्थात् शरीर भी मुकितमें है, जो कि नित्य है जैसे कि तुम्हारा सुख नित्य है अन्यथा यह कहो कि वहाँ सुख भी नहीं है । यहाँ आनन्दस्वरूपवादी कह रहे हैं कि शरीर तो कार्य है, उसे नित्य कैसे मान लिया जायगा क्योंकि जो जो कार्य होते हैं वे नित्य नहीं होते हैं । शरीर तो कार्य है किसी दिन उत्तरवाच हुआ और फिर इसका वियोग होता है । तो जो कार्य होता है वह नित्य नहीं हुआ करता है । अनेक बातें उदाहरणमें देख लो । तो शरीर चूंकि कार्य है इसलिए न तो शरीर मोक्षमें है और न शरीरकी नित्यता ही है । तो इत्यर वैशेषिक कहते कि यही बात नित्यसुखके बारेमें समझ लो कि सुख वह कभी नित्य नहीं हुआ करता । जैसे शरीर नित्य नहीं होता वैसे ही सुख नित्य नहीं होता । जैसे शरीर कार्य है वैसे ही सुख भी कार्य है । नित्यसुखको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, हमारी इन्द्रियाँ तो उस नित्य सुखको समझ नहीं रही हैं । यदि कहो कि योगियोंका प्रत्यक्ष समझता है तो उसमें विवाद पड़ा हुआ है कि नित्य सुखका ग्रहण कर रहा है या अनित्य सुखका ।

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे आनन्दरूपताका निर्णय—अब वेदान्ती और वैशेषिकके प्रश्नोत्तरोंपर स्थाद्वादी कहता है कि यह सब विवाद एकांतमें उठ

खड़ा हुआ है। आत्माका आनन्दस्वरूप है, इसे कोई मना नहीं कर सकता, अन्यथा आत्माका प्रयोजन क्या? आत्माका आनन्दस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप है वह ज्ञान आकुलतासे रहित है। ज्ञातकी विशेषता ही यह है जो ज्ञानहार रहता है, जिसके साथ किसी प्रकारकी विह्वलता नहीं होती है ऐसा ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है, जो कि आनन्दका अविनाभावी है। अब उस स्वरूपका उपाधिके समर्गमें, सम्बन्धमें तो विकार परिणामन होता है और उपाधि रहित परिणामनमें अविकार परिणामन होता है यह बात तो अनेक दृष्टांतोंसे ज्ञान सकते हैं। एक विलक्षण स्वच्छ दर्पण है, वह स्वच्छ ही है, उसका स्वरूप स्वच्छ है, पर कोई वस्तु सामने आती है, उपाधिका सत्तिवान होता है तो वह दर्पण चित्रविचित्र प्रतिविम्बरूप हो जाता है। तो दर्पण स्वच्छ है उसका विकाररूप प्रतिविम्बरूप परिणामन होता है, ईंट पत्थर आदिकमें वर्षों नहीं दूसरी चीजोंका प्रतिविम्ब पड़ता? क्योंकि उसमें स्वच्छान्दता नहीं है। तो जब कोई उपाधि है तो प्रतिविम्बरूप है और जब उपाधि नहीं, तो ज्योंका त्यों रहता है। इसी प्रकार आत्माका स्वरूप ज्ञानानन्द है। जब उपाधिका ‘सम्पर्क’ है तब यह विकृत रूप चल रहा है, वैष्यिक सुख दुःख यों नाना विभावरूप परिणाम रहा है और जब उपाधिका संसर्ग नहीं रहता है तो यह अपने उपयोग रूपमें अविकाररूप परिणामता रहता है।

निरुपाधि होनेका मूल उपाय—उपाधिका सम्पर्क न रहे, शरीर कर्म आदिकका सम्बन्ध न रहे इसका उपाय क्या है? इसका उपाय है शरीर और कर्म की उपाधिका सम्बन्ध नहीं है यह अभीसे निरुपाधि विविक्त ज्ञानस्वरूपकी दृष्टिका अभ्यास करें। मैं ज्ञानता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ इस प्रकारका मेरे मनमें विकल्प न उठे। यहाँ लोकमें जो कहा जाता है मैं मकान कर रहा हूँ, मैं दुकान कर रहा हूँ सो भीचों में ये कोई काम नहीं किया करता हूँ। ये सब पुदगलके कार्य हैं। जैसे कोई चीज हाथमें लेकर भी जिस चाहे तरहसे बनायी जाती है। जैसे मानलो एक रोटी बनानेका ही काम है, उस रोटीपर बहुत प्रयोग किए जाते हैं। अब लोई रूपमें कर लिया, फिर पतार दिया, जैसी चाहे कितनी ही अवस्थायें की जाती हैं उस रोटीमें, दृष्टने प्रयोग होनेवशर भी रोटी बनाने वाला पुरुष सिर्फ ज्ञानको कर रहा है या किसी पर द्रव्यका कोई कार्य भी कर रहा है? वह आत्मा तो उस जगह केवल अपने विकल्प बना रहा है। आत्मा कोई हृन्मरणगंधात्मक पिण्ड वस्तु नहीं है, ऐसे ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माके कार्य ज्ञानानन्दरूप ही हो सकेंगे। आत्मा जब विकारी बनता है तो आकुलताओंरूप परिणामता है और जब यह आत्मा अपने स्वरूपकी सावधानी रखे तो ज्ञाता दृष्टा ज्ञानहार रूपमें परिणामता है। और आनन्द विशद् निराकुलता स्वरूपमें परिणामता है। इस विशुद्धपरिणामनके लाभके अर्थोंको अभीसे ही विविक्त अन्तःस्वरूपको निरखना चाहिए।

परिणामिनित्य आत्मामें आनन्दरूपताकी संसिद्धि—स्वरूप है आत्मा

का आनन्द, किन्तु प्रात्मा नित्यनित्यात्मक है, सो मेरा जितना स्वरूप है उतना सब भी नित्यनित्यात्मक है। वह आनन्दस्वभावसे नित्य है परन्तु पर्यायदण्डिसे उसमें जो भी कार्य होता है, उसका परिणाम होता है अतः यह आपत्ति देना कि मुक्त जीव में और संसारी जीवमें दोनोंमें नित्यमुख हो बैठेगा, यह आपत्ति स्याद्वादमें नहीं आती। हाँ आरिणामो नित्य आत्माके किसी स्वरूपसे वह बात बन नहीं सकती। जो आत्मा को सुख स्वभावी कहा गया है वह सुख स्वभाव मात्रकी सिद्धि करता है। नित्यसुख स्वभाव है अर्थात् आरिणामी है जिसमें कुछ परिणामन नहीं है। ऐसा कोई नित्य सुख स्वभाव हो उसकी तिद्धि नहीं होती है। अतः मानना चाहिए कि यह स्वभाव दण्डिसे नित्य है, परिणामन दण्डिये अनिय है। स्याद्वाद निर्णयका कितना सुन्दर उपाय है पर इस उपायसे निर्णय करके बादमें भी उस भेद दण्डिका विकल्प रखे तो वह योगसाधना नहीं कर सक रहा। सब कुछ जानकर भी फिर कुछ जाननेका श्रम न करे मात्र जाननहार रहे आत्मामें परम विश्राम रहे। जान लिया सब, सारभूत बात कही कुछ न रहे हैं इपलिए मैं अन्यत्र कही पड़ना नहीं चाहता बस इतनी ही बात मुझे चाहिए। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं सोचना है।

स्वमेंस्व की अवस्थारूपसे स्वका भवन—देखो भैया ! जानता भी क्या, जानता कौन है ? जानना होता है, पदार्थमें उत्पादव्यय चलता है। पदार्थकी उत्तरति का कर्ता कौन है, पर तो उत्पन्न करता नहीं और खुद, खुदको उत्पन्न क्या करे, वह स्वतन्त्र सत् है। तो पदार्थ पर्याय तो उत्पन्न करता कौन है ? पर्याय होती है। कैसे होती है ? विभाव पर्याय तो एक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धसे होती है, स्वभाव पर्याय उत्ताविसंविधान बिना मात्र स्वके भवन स्वभावसे होती है। करनेकी कौनसो बात है ? जो यह समझ या जाता है कि आत्मा मात्र जानको करता है तो वह तो उस भाषामें कहा गया है जो जहाँ परको करता है, करता हूँ इन विकल्पोंसे जहाँ करने करनेका ही एक दिमाग बने, उनको बताना पड़ता है कि आत्मा परको नहीं करता। फिन्झु, आत्मा तो ज्ञानमात्र भावको ही करता है। जिनके करने करनेकी आदत बनी है उनको करनेका नाम लेकर समझ या जाता है। वस्तु है और द्रव्यत्वस्वभावके कारण प्रतिसमय अवस्थारूप होता रहता है। और वहाँ उगाविका सम्बन्ध हो तो यों होता है, निरुचिसहित हो तो यों होता है।

समाविभावका उपकार—अब निर्णय करनेके बाद एक समाविभाव लेनेकी आवश्यकता होती है। समाविभाव व्रथात् परम उपेक्षा और थोड़ा विश्राम ! हन दो बातों का ही मिश्रण तो समाविभाव है। समाविभावमें और ही क्या रहा है, प्रत्येक बात विविधेवात्मक है, तो समाविभाव स्वरूपविविसे प्रदृष्टि से तो अन्तः विश्राम है और निवृत्ति से परम उपेक्षा है। तो ऐसा परिणाम हमारा आ सके और मोक्ष तत्वकी प्रतीक्षा करनेकी हमारी वृत्ति बने तो हम इस भूमेलेसे दूर हो सकते हैं अन्यथा कितनी ही

व्यवस्था करले चाहे मकान सजाले चाहे कुकान स जाले और वैभवपर वैभव भी बढ़ाते जा रहे हैं, सब कुछ कर लिया पर करना बाकी रहता है और करने-करनेमें भरणा हो जाता है, आखिर यह जीव आगे कहीं तो जायगा ? कुछ इस बातपर भी तो दृष्टि ले जायें। यह भारा भमेला जो एक ४०-५० वर्षके लिए किया जा रहा है तो इतना सा समय इस अनन्तकालके सामने कुछ गिनती भी रखता है क्यों ? इस छोटेसे जीवनकालमें अंतर्स्तत्त्वकी बात तो रुचती ही नहीं है, सब कुछ धन वैभव इज्जत पीजीशन ही रुच रहा है। एक इस शरीरको यह मैं हूँ, ऐसा भाव करके केवल अपनी ऐंठ ही रही। तत्त्व कुछ न निकला। और, ऐसे थोड़े समयकी ऐंठ ये प्रत्येक जीवमें चलती आयीं। चलो, इससे भी सन्तोष होता कि ५० वर्ष ऐंठ बगरा लें कुछ विकल्प करले, बरबादी करले, फिर ५० वर्षके बादमें मरेंगे तब तो भक्षण छूट जायगा। नहीं छूटेगा मरण करके जिस नई जगहमें जायेगे वहां फिरसे अ, आ, ह, है शुरू करेंगे। फिर विकल्प करेंगे, मोह करके और थोड़े ही समय बाद मरण करके चले जायेंगे। यों जन्म मरणकी परम्परा ही चलती रहेगी और इस जीवको कभी हितका मार्ग नहीं मिल पायगा।

आत्मार्थकी सिद्धिके प्रयत्नका अनुरोध—मैया ! आनन्दस्वरूप भगवान आत्माको देखो, जो देहसे भिन्न स्वयं विराजमान है, सब अनने अनने अन्दर सोचे और अपने हितके ही भावसे सभी घर्मकी बातें एक इसी प्रयोजनके लिए सुनें। क्या कहा जा रहा है, हम भी इस सम्बन्धमें कुछ कहें, बोलें बतायें, या कुछ ज्ञानका अर्जन करें तो कहीं यह ज्ञान बतावेंगे तो लोग भी समझेंगे आदिक ये कोई भी प्रयोजन नहीं है घर्मकी बात सुननेका। घर्मकी बात सुननेका प्रयोजन तो यह है कि सुननेके ही साथ सुननेके ही समयमें बाह्यसे दृष्टि हटाकर जिस आत्माकी बात कही जा रही है उस आत्माको लखनेमें अपना उपयोग लगाया जाय, निरखा जाय और कैसे मेरा हित ही बस इस भावनासे अनने आपवर ही उसे घटित किया जाय यह घर्मश्वरसंका प्रयोजन है। तो अनने आपमें निरखें कि इतने वर्ष तक विकल्प कर चुकनेके बाद, करते रहनेके बाद भी आज मेरे आत्मामें उन्नति कितनी हुई है, हममें कौनसा विकास हुआ है, बड़प्पन हुआ है ? विकास और बड़प्पनकी बात तो दूर जाने दो, हैरानी, परेशानी, अवनति हुई है। आत्माके सहज, विशुद्ध, निरपेक्ष स्वरूपको जानकर उपकी आराधना के बलसे अपने आपमें शुद्ध ज्ञानको अनुभव बनाए रहना, बस यही एक मात्र सारभूत सत्य पुरुषार्थ है। इसके अलावा जितने भी काम हैं वे सब कोयलेकी दलालीमें काले हाथ जैसी कहावत है, इसी प्रकार इन पर पदार्थोंकी दलालीमें, सौंसारिक प्रयोजनों की दलालीमें केवल व्यर्थ विकल्प ही हाथ लगते हैं, मिलता कुछ नहीं है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, और रसनश्रयके उपायसे आनन्दस्वरूपसे अविकार विकासके रूपमें अभिव्यक्ति होनेका नाम भोक्ष है।

आत्माके सुखस्वभावकी असिद्धिके लिए वैशेषिकों द्वारा वितर्क - अब यहाँ वैशेषिक वेदशीले पूछ रहे हैं कि आत्माका जो सुख स्वभाव कहा है तो सुख स्वभावने इस अर्थ क्या है ? क्या सुखत्व जाति ने सम्बन्धी रहनेका नाम सुखस्वभाव-पना है ? तो सुखत्व जातिका सम्बन्ध किसमें रहा ? सुखमें, तो सुखत्वका आधार कौन रहा ? सुख न कि आत्मा । आत्मद्रव्य है सुख गुण है और सुखत्व रहा सुखमें अर्थात् सुखना गुणमें रहा, आत्मामें न रहा । गुण और द्रव्य जाति साधारणतया नहीं पायी जाती है अर्थात् एक ही जातिका सम्बन्ध द्रव्य और गुणदोषोंमें नहीं होता । वैशेषिक यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, गुण यथाय, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये ६ पूरे जुड़े-जुड़े सत् हैं, जबकि स्याद्वद दर्शनमें कहा है —जीव, पुद्गल, वर्ष, अवर्ष, अ काश और काल ये ६ स्वतन्त्र पूर्ण सत् हैं । भेदभावमें विशेषता करनेकी भेद करने की ही धून है सो एक ही द्रव्यमें ये ६ भेद कर दिए हैं—यों सपमित्र जैसे एक जीव द्रव्य, एक जीव ले लीजिए । उस जीवमें गुण है ना, ज्ञानदर्शन आनन्द आदिक जीव इस सभ्य भी गुणात्मक है, लेकिन विशेषवादमें जीव अलग सत् है गुण अलग सत् है । जीव की परिणाम होती है ना, अच्छा जाना, बुरा जाना, सुखरूप परिणाम, आनन्द-रूप परिणाम, क्रिया हुई तो प्रथेक कार्य कार्यके कालमें उस जीवमें तन्मय है और अगले समयमें वह क्रिया न रही तो श्रीर क्रिया हुई यों पूर्व क्रियाकी लीनता हो जाती है । किन्तु वैशेषिक सिद्धान्तमें क्रिया (पर्याय) भी स्वतन्त्र सत् है । अब सबों सब जीवोंमें जीवत्व सामान्य है । समर्थमें आता है कि जीव जीव सब एक स्वरूप हैं, तो इन जीवोंमें एक जीवत्वस्वरूप सामान्य है । तो लो विशेषवादने जीवमें रहने वाला जो यह सामान्य तत्त्व है इसको भी स्वतन्त्र सत् कह दिया । यह भी स्वतन्त्र एक अलग पदार्थ है । अच्छा, जीव कहनेपर सब जीव आए, मगर यह जीव, यह जीव इस तरहका रहने वाला जीव यह विशेष आया कि नहीं ? तो लो विशेषवादमें एक विशेष भी कोई पदार्थ स्वतन्त्र सत् है । लेकिन जीव पुद्गलकी भाँति अब ये सब जुड़े जुड़े पदार्थ तो हो गए, अब सुविकल यह पड़ रही कि ये जीवमें मिल कैसे जायें ? जीवमें तन्मय गुण रहते हैं । तन्मयतासे जीवकी परिणाम भी रहती है उसी बज्जूसे जीवमें सामान्य नजर आया, जीवमें विशेष नजर आया, ये सब बातें कैसे बनें तो लो समस्या अगर कोई आती है तो समाधान तो इसको बुढ़िमें ही पड़ा हुआ है । लो एक समवाय नामक पदार्थ है जो यहाँ दुनियांमें एक सम्बन्ध नामकी चीज है । वह सम्बन्ध इन सबके सम्बन्ध जुटा देता है । अच्छा - इतनेपर भी विशेषवादियोंको अपने भेद करनेकी हठमें तृष्णि न हुई तो वे कहते हैं कि इसके अतिरिक्त अभी अभाव नामक कोई पदार्थ है । यही नहीं है तो 'न' यह भी एक भी एक पदार्थ है, यों ६ प्रकारके पदार्थ माने गए विशेषवादमें । तो कोई सी भी जाति अगर द्रव्यमें है, गुणमें नहीं है । यदि जाति गुणकी है तो वह जाति गुणमें रहेगी, द्रव्यमें न रहेगी । इस प्रकार सुखत्व जातिसे सुखमें सुखत्व आ गया तो आत्मामें तो नहीं आया । तो सुख-

त्वस्वभावी सुख रहा, आत्मा सुखस्वभाव नहीं रहा ।

आत्माके सुखाधिकरणत्वके विरुद्ध वैशेषिकोंका चिन्तक यदि कहो कि आत्मा सुखत्व जातिसे सम्बन्धित नहीं रहा, न सही किन्तु सुखत्व रहा सुखमें और वह सुखका आधार हुआ आत्मा यों सुखका अधिकरण तो है आत्मा । तो कहते हैं फिर ही भी बात नहीं बनती क्योंके सुख आत्माका नित्य है या अनित्य ? यदि कहोगे कि नित्य है तो जैसे आत्मा नित्य रहता ही है ऐसे ही सुख भी नित्य रहा, फिर वहाँ स्मृत्युकी बंदी जहरत ? तथा नित्य सुख यानेपर भ्रुक्त और संसारी सब एक समान हो जायेंगे । अनित्य है तो कार्य हुआ उसका कारण बताशो । तो दोनों विकल्प त्तियोंसे आत्मा सुखस्वभावी सिद्ध नहीं होता, ऐसा वैशेषिकोंके प्रति वैतेषिकीका न्तव्य होनेपर स्याहादी कहते हैं ।

आत्माके सुखस्वभावका और उसकी सिद्धिके उपायका प्रतिपादन — वके भावका नाम सुखत्व है ? और वह सुख कोई आत्मासे अत्यन्त नहीं है किन्तु य अखण्ड स्वतन्त्र सत् होता । तो प्रीर उसे जब समझाना है तो भेद करके समझना ता है । उस भेदभूत है पद्धतिमें गुणोंके रूपसे प्रतिपादन हुआः करता है । पदार्थ तो है सो ही है अवश्यक्तव्य है । अब उस आत्ममें जान गुण है सुख गुण है, इसका भाव पड़ा है यों भेद हस्तिसे प्रतिपादन है । वह अद्या तो अखण्ड है, उसे बतानेका यह उपाय है कि उसको गुणोंका भेद करके समझ या जाय । यह सब एक दर्शन द्वाके ढङ्गपर मोक्षके स्वरूपकी चर्चा चल रही है, और वैषेषिकोंको इसमें अग्रणी जानना है और सूक्ष्म विवेचनाके काढ़में न पड़े, क्यों है क्या नहीं, इसमें दिमाग्न लगाना है, न लगाये, कोई जहरत नहीं है, पर इन्हाँ तो करना होगा कि समग्र परवस्तुओं पर अहित भिन्न जान करके उनमें पर वानुओंको पर अहित भिन्न जान करके में परम उपेक्षा हो । जब परम उपेक्षा हो गयी तो उपर्योगका भाव न रहा, करनेका शब्द न रहा । तो एक सहज जो मैं हूँ उसका अनुभव जाएगा । परम उपेक्षा प्रीर अन्तः विश्वाम इन दो बातोंके द्वारा, जो अत बड़े-बड़े शास्त्री बड़ी त्तियोंके द्वारा जानना चाहते हैं, कोई भी जीव इन दो उपर्योगके अन्ते आत्माको स्पष्ट जान सकता है । जैसे कोई आदमी परस्तारमें मिश्र के दके विषयमें लड़ रहे हों, एक कहे कि मिश्री मीठी होती है, कोई कहे कि मिश्री शी होती है, कोई कुछ कहे कोई कुछ और कोई विवेकी पुरुष उस फगड़में ही न आ चाहे तो एक मिश्र की डनी लेकर मुखमें डाल ले, वह समझ जायगा कि मिश्री होती है इसी प्रकार आत्माके वह इपके विषयमें चाहे बहुतसे वादविवादोंमें न अर्थवा दूसरोंके वादविवाद समझमें भी न आयें किन्तु समस्तरपरसे परम उपेक्षा और अपने आत्ममें अन्तः विश्वाम करके समस्त शास्त्रोंकी वह सारमूल चीज हम को सुगमतासे प्राप्त हो सकती है जिसको बड़े बड़े आचार्योंने बहुत कुछ श्रम करके

प्राप्त किया । इस बातको तो तिर्यञ्च भी पा लेते हैं । तो आवश्यकता है गम्भीरताम् आत्मतत्त्व की बात सोचनेकी । इस मोहमपतासे आत्माका कुछ भी भला नहीं है ।

ब्रह्मकी आनन्दरूपताकी सिद्धिमें दिये गये हेतु - भास्करीय वेदान्तियोने
आत्माको मुखस्वरम् भी सिद्ध करनेके लिए दो हेतु दिए । यह आत्मा अथवा यह ब्रह्म सुखस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है क्योंकि यह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है अर्थात् सब को अन्यन्त प्राणा आना आत्मा हो है । कैसी भी विद्यतिर्याँ हों, दूसरीकी अपेक्षा कर को ज्यगी पर अपने आत्माकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । जैसे कोई बंदरी अपने बच्चेको लिए हुए किसी नदीके बीच अवस्थित छोटे टीलेपर बैठी है और नदीमें बाढ़ हुए देखती है तो आपने बच्चेके ऊर लड़ी होकर भी अपने प्राणोंकी रक्षा करती है, शृणुभवोंसे भी देख लो कोई आत्मिकी घरपर आती है तो पहिले तो आप अपने घर बालोंकी रक्षा करते हैं पर जब अपने प्राणोंगर सङ्कृट आ जाता है तब आप उन समस्त परिजनोंकी उपेक्षा करके अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं । तो आखिर आना आत्मा सभीको प्रिय है इससे यह सिद्ध है कि आत्मा आनन्दस्वरूप है उभी तो यह बात घटित होती है कि यह जीव अपने आपको सुरक्षित रखनेका यत्न करता है । दूसरी बात यह है कि अपने आपको अङ्गीकार अनन्यपर होकर किया जाता है अर्थात् हम अपने आपका बचाव, अपने आपके आनन्दका भोगना अपने आपमें भौज मानने की बात ये सब अनन्यपर होकर होते हैं । उतना कोई जीव पर वस्तुमें लीन नहीं हो पाता जितना कि अपनेमें लीन होता है । इससे यह सिद्ध है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ।

वेदान्ती द्वारा कहे गए आत्माकी अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्व हेतुके निराकरणका वैशेषिक द्वारा प्रयास ब्रह्मकी आनन्दरूपताकी तिद्धिके लिये उक्त दो हेतु वेदान्तियोने दिए थे, उनका उत्तर यहाँ वैशेषिक यों दे रहे हैं कि ये दोनों हेतु सदोष हैं, अनेकान्तिक हैं, क्योंकि यह कहना कि आत्मा अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है इसलिए आत्मा आनन्दस्वरूप है, यों ठीक नहीं कि अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय आत्मा में दुःखका अभाव ही है न कि मात्र मुख और आत्मा । वैशेषिक सिद्धान्त वाले यहाँ आत्माके अभावको अथवा दुःखके अभावको प्रिय मान रहे हैं और कहते हैं कि कभी कभी तो आत्माके अभावमें भी प्रियबुद्धि देखी जाती है इससे यह हेतु तक भी सिद्ध नहीं कर उकते कि मुख ही प्रिय है । दुःखका अभाव भी प्रिय है और दुःखका अभाव एक तुच्छाभावरूप माना है । वैशेषिक सिद्धान्तने अभावको तुच्छाभाव माना है । जैसे किसीने कहा कि उस वेच्चपर थाली रखी है उसे उठा लाओ । थाली उसपर थी नहीं तो उस जगह देखकर वह कहता है कि थाली यहाँ नहीं है । तो क्या तुमने वहाँ खूब देखा ? ...हाँ खूब देखा । तो क्या थालीका अभाव, थालीका असत्त्व भी दिला करता है ? क्या देखा ? ...थाली बेच । तो थालीके अभावके माध्यने थालीके सम्बन्धानसे

इहित अनोनीत आधारभूत कोई चीज़ । तो अभाव किसीके सद्भावरु । पड़ता है । लेकिन वैशेषिक मिद्दान्तने अभावको अन्य प्रतियोगीके सद्भावरु । नहीं माना, किन्तु अभाव खुद एक पदार्थ है और वह अभावरु है, तुच्छाभावरु है, किसी अन्यकी सत्तारूप नहीं है, अभाव खुद सत् पदार्थ है ऐसा वैशेषिक मिद्दान्तमें माना गया है । तो अत्यन्त प्रियबुद्धिका विषय आत्मा ही होता है इसलिए वह आनन्दरूप है यह युक्ति ठीक नहीं, और अत्यन्तिरिय बुद्धिरना है । क्या सबको अपने आपका आत्मा अत्यन्त प्यारा लग रहा है ? तो जरा उनकी दशा तो देखो जं आत्महत्या कर डालते हैं । उनको अपना आत्मा बुरा लगा तभी तो हत्या की । वहाँ वैशेषिक अनी युक्तिये यह सिद्ध कर रहा है कि आत्मा आनन्दस्वरु । नहीं है । आनन्द तो एक परतत्व है, आत्मामें सुखका लगाव लग बैठा इसी कारण आत्मा दुःखी हो रहा है । जिस दिन आत्माका आनन्द जड़से निरन्तर जायगा उस दिन मोक्ष होगा । यह वैशेषिक मिद्दान्तसे भोक्षका स्वरूप है । तो दुःखी होनेकी अवस्थमें जीवको अपने आपका आत्मा भी प्यारा नहीं लगता । तो इससे सिद्ध है कि अत्यन्त प्रियबुद्धिका विषय है आत्मा, यह मही बात नहीं है ।

वेदान्ती द्वारा कहे गए आत्माके अनन्तपरतयोपादीयमानन्द्व हेतुके निराकरणका वैशेषिकका प्रयास—आत्माको अनन्दस्वरु । सिद्ध करनेके लिये दूसरा जो हेतु दिया था कि आत्मा आनन्दस्वरूप है, क्योंकि अनन्य लीन होकर यह खुदको ही ग्रहण करता है । जब कभी घरमें, मिश्रोंमें, गाढ़ीमें झगड़ा हो जाय तो कैसा अकेला, एकांतमें बैठकर अपने विकलगेंसे प्यार किया जाता है । सोचते जावे मनमें यों न करना यों न करना । कितना विकलर करके अनन्य लीन होकर यह अनन्य लीन होकर यह सोचा करता है । इससे सिद्ध है कि आत्मा आनन्दस्वरुप है यह बात भी सही नहीं है । यह कहना कि अत्मा आत्माके लिए सब कुछ करता है । जैसे लोग कहते हैं ना कि सभी लोग अपने लिए करते हैं जो कुछ भी करते हैं । तो आत्मा भी अपने लिए अरना ग्रहण करता है ऐसा कहना ठीक नहीं है, आत्मा अन्यका लिए ग्रहण नहीं किया जाता यह बात अयुक्त है, क्योंकि सुखके लिए अपने आत्माका ग्रहण हुआ करता है तो दोगे हेतु असिद्ध हैं और सदोष हैं ।

आत्माकी आनन्दमयता व अपने लिए अपने परिणमनका समर्थन— उक्त प्रकारसे वेदांतियोंके सुखस्वभाव आत्माकी तिद्धिमें दिए गए हेतुमें वैशेषिक द्वारा दोष हेनेके बाद अब स्यद्वादे कहते हैं—दुःखका जो अभाव है वह तुच्छाभावरु नहीं है किन्तु प्रतियोगोके सद्भावरु है । जैसे जिस पुरुषको दुःख नहीं रहता वह यह महसूस नहीं करता कि मुझे दुःख नहीं है, किन्तु वह तो सुख रहसे अपने आपका अनुभव करता है, उसमें प्राह्लाद होता है । सुख आत्माका गुण है, स्वभाव है और उस गुणका वह अपनेमें परिणमन करता है । सुखके लिए अपने आपका ग्रहण करना

इसका अर्थ है आगे लिए अपना शहरण करना है, क्योंकि वह सुख आत्मासे भिन्न वस्तु नहीं है। तो कोई यह कहता है कि यह पुरुष तो अपने आपका साथी है। जो कुछ करता है वह अपने लिए करता है। तो एक भी पुरुष ऐसा बताओ कि जो कोई परके लिए भी कुछ करता हो। तो वस्तुका स्वरूप है कि जो कोई जो कुछ करता है सो अपने लिए करता है। बड़े-बड़े उपकारी मनुष्य भी जो कुछ चेष्टा करते हैं परका उपकार करते हैं वे परके लिए नहीं करते, स्वयंमें जो किया उत्पन्न हुई है शुभ कथाय कह लो, भला विकल्प कह लो उससे जो वेदना उत्पन्न हुई है उस वेदनाको शान्त करनेके लिए ही तो परोपकार किया। बहुत ही करुणावान पुरुष हो, जिसे दुनियामें श्राना नाम फैलानेकी भी रंच मनमें कहरना नहीं है ऐसा सज्जन पुरुष बड़ी करुणासे जीवोंकी सेवा करे, उपकार करे तो उस पुरुषसे वस्तुतः किया क्या? अगे आपमें जो दयाका भाव बना हुआ था जिससे कि यह रह नहीं सकता था प्रश्नित किए विना उस मंद कथायमें उत्पन्न हुई प्रेरणाका उसने श्राना इलाज किया है तो अगे लिए ही उसने सब कुछ किया।

करुणामूर्ति आचार्यदेवोंकी वस्तुतः आत्मशान्त्यर्थं ग्रन्थरचनामें प्रवृत्ति वदि कोई यह भी कहे कि इन आचार्यदेवोंने जो ये बड़े ग्रन्थ रचे हैं जिनसे हम आप सब जीवोंका भला हो रहा है इन्होंने बड़ा उपकार किया। कुरुज पुरुषको ऐसा कहना ही चाहिये। कुरुठन होनेपर तो वह वर्मका पात्र नहीं रह सकता, फिर भी वास्तविकतापर हृषि देकर तत्त्वनिर्णय करें तो वास्तविकता यह है कि इन आचार्य महाराजकों संसारके अज्ञानी जीवोंपर बहुत बड़ी करुणा उत्पन्न हुई और वह करुणा इस लिए उत्पन्न हुई कि उन्होंने देखा कि ये सभी लोग हैं तो सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप, किवीको स्वभावसे कोई कष्ट नहीं है, सब प्रभु हैं। लेकिन इस अपने आपकी प्रभुता का परिचय न होनेसे ये दीन हांकर संसारमें व्यर्थ ही जन्म मरण कर रहे हैं। भैया! उस वक्त बड़े धनिष्ठूरासे करुणा उत्पन्न होती है कि सधन तो खुदके पास हैं और बेवकूफ बनकर उसका उपयोग न करे कोई। जैसे मान लो कोई मुसाफिर श्राना विस्तर लिए रेलमें चल रहा है। रेलमें डिब्बा पूरा खाली है, थोड़ेसे आदमी उस डिब्बेमें बैठे हैं। ठड़के दिन भी है, सारे रातका सक्त है, अस्ते रित्यन्तः स्पान्तप्तः सुबह दिनमें पहुंचना है, फिर भी यदि वह यह सोचकर कि सुबह फिर बिस्तर बांधना सुबह दिनमें पहुंचना है, फिर भी यदि वह सोचकर कि सुबह फिर बिस्तर बांधना चाहता है, तो देखने वाले लोग उसे बेवकूफ कहेंगे और उसके ऊपर एक करुणाभरी हृषि करेंगे। अथवा यों समझो कि जैसे गरमीके तो दिन हैं और कोई व्यासा साधारण पुरुष प्रमादवश पड़ा रहे, व्यासके मारे उसका गला सूख रहा है, फिर भी पासमें रखे हुए बड़ेसे जल निकालकर पीनेमें प्रमाद करता है तो उसे कितना बेवकूफ कहा जायगा? उसके ऊपर तो उसे देखने वाले लोगोंको करुणा विशेष होगी। तो इन आचार्योंने जब यह देखा कि यह जीव स्वयं ज्ञानानन्दमय है, प्रभु है, एक केवल हृषि देने भरकी बात है और हृषि भर देनेके लिए

कोई विशेष यत्न नहीं करना है। जैसे मान लो कोई परष पश्चिमको मुख किए बैठा है और मूल दिशाको ओर बैठे हुए किसी वर्तिको देखना है तो उसे जराता पुक्कुछ भ्रमने भर जी बात है कि वह पुरुष उसे देख जायगा। तो इस प्रसङ्गमें तो मुखको नहीं देखना भी पड़ा, मगर अपने उस सुखस्वरूपकी ओर दृष्टि करनेमें इतना भी अमर्त्यन ही करना है। केवल अपने आपमें ही अगर उस स्वरूपको निरलने अनुभवनेका प्रयत्न करना है। पर इन संसारी जीवोंसे इतना भी नहीं किया जाता, ऐसा देखकर उन वृत्तिजनोंके करणामुद्दित उत्पन्न हुई और उस करणाकी वेदना न सह सकनेसे उन्होंने काम किया।

आत्माकी आनन्दरूपताकी सिद्धिमें वेदान्तियों द्वारा कहे गये हेतुओं का स्याद्वादसे समर्थन—देखो भैया। प्रगते लिए ही तो सब काम किया जाता। किर अपने आपमें तत्पर होकर अपने आपको ग्रहण करनेकी बात कौन सी अनुचित है। यह जीवोंका स्वरूप है। इसमें नयवादहो दृष्टि दें तो उनके हेतुमें दोष नहीं है। अगर एकान्तवादसे हठ करके कि आत्मा तो ऐसा सुखस्वभावी है कि उस सुख कोई वरिण्यन नहीं, वर्तना नहीं, वह तो सुखस्वरूप है ऐसी एकान्ती बात कहनेमें तो विरोध है, पर यह सही बात है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। ज्ञान और आनन्द, ये गुण बताए गए, इसका अर्थ यह नहीं है कि ज्ञान और आनन्द अलग सत् हैं और आत्मा अलग सत् है। दोनों स्वतन्त्र सत् हैं यह अर्थ नहीं है किन्तु एक सञ्चूत अबण्ड आत्माको समझानेके लिए जो आत्माकी विशेषतायें आत्माके स्वरूपकी बातें बतायी जाती हैं उसका नाम गुण कहलाता है। कुछ गुण स्वतंत्र रखे हों आत्मामें और उन गुणोंका किर प्रतिपादन है ऐसी बात नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है जब ही यह आत्मा अपने इस स्वरूपपर दृष्टि देता है, अपने आपको पहचानता है तो इसका ज्ञान भी और आनन्द भी परिपूर्ण विकसित होता है।

‘आनन्दम् ब्रह्मणो रूपं’ के कथनपर वैशेषिकोंका विरोध—अब वैशेषिक वेदान्तिको द्वारा दिए गए आगमके कथनका विरोध कर रहा है। उनका कहना यह कि हमारे आगममें भी लिखा है आनन्दम् ब्रह्मणोरूपं। ब्रह्मका स्वरूप आनन्द है, उससे गिर है कि ब्रह्म अथवा आत्मा सुखस्वभावी है। सदाकाल इसमें सुख विराज-मान रहता है। अपरिणामी मुख। यह कहना अपूरक है ऐसा वैशेषिक कह रहे हैं आत्माका प्रयोजन सुख ही हो यह बात तिद्द नहीं होती। आत्माका प्रयोजन दुःख दूर करनेका भी है, दुःखका अभाव भी है। आत्मा आत्माके लिए ही उपादीयमान है यह बात सिद्ध नहीं होती है। आनन्दका कुछ अर्थ नहीं। दुःख सदाके त्रिए न रहे, बस यही है आनन्दका अर्थ। तो आत्मतिक दुःखके अभावके अर्थमें आनन्द शब्दका प्रयोग है इसलिए आनन्द शब्द गोरण है, और देख लोजिए, यहाँ पर भी जब दुःख

नहीं रहता है तो लोग उसे सुख शब्दसे बोला करते हैं। जैसे किसीको १०४ डियो बुखार है और उत्तरकर अब १०३ डियो रह गया है तो वह कुछ होशमें आता है, अब तुम्हारी तवियत कैसी है? तो वह कहता है कि अब तो अच्छी तवियत है। और कहाँ अच्छी तवियत है? अभी तो ३-४ डियो बुखार चढ़ा है, लेकिन बात वहाँ है। अथवा कोई तिरार लकड़ी का गट्ठा लादे जा रहा है, बड़ा बजनदार गट्ठा है। पिर दुखने लगा तो वह उप गट्ठे को एक पेइसे टिकाकर नीचे उतारकर रख देता है और उप बोझके उत्तर जानेपर सुख का अनुभव करता है। और उसे किस बातका सुख मिला? किसीने उसे कुछ कल खिना दिए क्या या किसीने उसके लिए सुख साथ जुटा दिए क्या? और बात वहाँ यह है कि उसके सिरमें जो बोझ लदा था, विनें उपको बड़ा दुःख प्रीत हो रहा था वह दुःख कुछ करने हो गया। उसमें वह सुख शब्दका प्रयोग करता है। इससे पहले सिद्ध होता है कि दुःखके अभावको लोग आनन्द कहा करते हैं। अनन्दकोई चीज़ हो, आत्माका स्वरूप हो सो बात नहीं है दुःखके अभावका न मआनन्द है।

आत्माके सद्भावात्मक आनन्दरूपका स्याद्वाद द्वारा समर्थन—उक्त प्रकार वैशेषिक द्वारा उत्तर होनेपर स्याद्वादवादी लोग कहते हैं कि दुःखके अभावमें सुख शब्दका प्रयोग करना और उसे गोण मानना यह बात युक्त नहीं है। जितने अशर्में दुःखका अभाव है उसके अनुकूल उसने सुखका भी अनुभव किया। दुःख नहीं है, सो वहाँ आनन्दका क्या अनुभव? अनुभव होता है किसी विविका। दुःख न रहा, यह अनुभव किया जा रहा है, इसका अर्थ है कि सुखका अनुभव किया जा रहा है। जैसे किसी पुरुषने कहा कि आज अजैनोंको खुब भोजन करायो अब वहाँ कोई अजैन का यह अर्थ माने कि जैनका अभाव तो जैनके अभावको भोजन क्या कराया जायगा। वहाँ तो कुछ भी खर्च नहीं होनेका। ऐसा तुच्छाभाव मान लिया तब तो सारा पैसा बच गया। जैनका तुच्छ अभाव सर्वत है, ले अभाव! तू खा ले तो वह कैसे खा ले? खानेकी चीजें तो ज्योंकी त्यों बरी रहेंगी। और अभावके कहाँ पेट है? कहाँ सुख है, वह कहाँ खा लेगा? तो इसी प्रकार कहा कि दुःखके अभावका अनुभव करता है तो दुःखका अभाव, दुःख नहीं, ऐसा 'न' ऐसा असद्वाव, उसका अनुभव क्या कर लिया जायगा? अजैनका अर्थ है जो जैन नहीं है अन्य है ऐसे पुरुषोंको लियाजी तो उसमें खिनानेकी भी बात आ गई, खर्च भी हो गया, बात भी चल गई किया भी हो गई। अगर किसी अभावका अर्थ केवल 'न' लिया जाय, मात्र अभाव, तो उसमें अर्थकिया क्या, परिणामन क्या? बात ही कुछ नहीं निभ सकती है। तो आत्माका अभावमात्र अभाव नहीं, वह सुखके सद्वावहन है। जितने भी अभाव होते हैं तो प्रतियोगिके सद्वावहन हुए करते हैं। नित्य नहीं, इसका अर्थ क्या? अनित्य।

अनित्य नहीं इसका अर्थ क्या ? सदा रहने वाला । जितने भी आभाव है उनका अर्थ उनके प्रतियोगियोंके सद्भावरूप हुआ करता है । आभाव तुच्छाभाव नहीं ।

• आनन्दस्वरूपकी उपयोगिताका प्रतिपादन—आत्माका स्वरूप आनन्द है और आनन्दका परम विकासका नाम मोक्ष है । इसमें कोई गती नहीं लेकिन एकमात्र आनन्द ही है आत्मामें । और वह अरिणामी है, उसका न ज्ञान है, न अनुभव है, न प्रवर्तन है, उस आनन्दका कुछ उपयोग नहीं है और है आनन्दस्वरूप, तो वह आनन्दस्वरूप और क्या है ? सो बताओ ! यह कथनमात्र है । कोई आदमी प्रसन्न हो कर यह कहे कि साहब, आप जीमिये ! यह थालीभर भोजन रखा है पर इसमें हाथ मुख आदि कुछ न लगावो ! अच्छा आपको जिमाया । यदि वह हाथ लगाये सिर्फ़ भुखसे ही लाया जा सकता था, पर मुख भी लगानेके लिए मनाही है, तब फिर आप उस भोजनको कैसे खा सकेंगे ? वह भोजन तो जैसाका तैसा ही रखा रहेगा ! तो ऐसे ही आप समझिये कि जहाँ आनन्दका कुछ भी अनुभव नहीं हो सकता, कुछ उपयोग नहीं हो सकता और है वह आनन्द, तो वह आनन्द क्या है ? तो ऐसा अरिणामी कूटस्थ आनन्दका स्वभाव नहीं है, पर हाँ आत्मा आनन्दस्वरूप है और कूंकि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यधीव्यस्वरूप है तो आत्मा भी अगले क्षणमें नवीन पर्यायस्वरूपसे उत्पन्न होता है और पूर्वव्ययस्वरूपका विलय करता है तो ऐसा होनेपर सभी गुणोंकी बात आगयी । सभी विशेषताओंकी भी यही बात है आनन्द भी अब नवीन क्षणमें नवीन अनुभूत हो रहा है, पुराना आनन्द अब विलीनस्वरूप हो गया है । तो इस अनुभव और परिणामन की दृष्टिसे आनन्दका उपयोग चलता रहता है ।

आत्मामें आनन्दस्वरूपकी अभिव्यक्तिका कारण—आनन्दस्वरूप प्रत्येक आत्मामें है, किन्तु संसारावस्थामें आवरणोंके कारण इस आनन्दस्वरूपका घात होगया है । अविकाररूपसे प्रकट नहीं हो पा रहा है, वस यहीं तो संसार है, यही सङ्कट है, और जब उन आवरणोंका आभाव हो जाता है और यह स्वरूप व्यक्त हो जाता है तो वस हीका नाम मोक्ष है । उस आनन्दके आवरण करने वाली अनेक बातें हैं । जैसे विषयोंका व्यासङ्ग होना, विषयोंमें लग जाना, क्षयोंमें उपयोगी होना, शरीरका बन्धन रहना, इन्द्रियसे ज्ञान करना, कर्मका उदय होना ये सभी कोई किसी दृष्टिसे कारण है कोई किसी दृष्टिसे । जब इस कारणभूत उपाधिका आभाव होता उस समय यह आनन्दस्वभाव विशुद्ध रूपमें प्रकट होता है उस समय आनन्द ही क्या । वहाँ अनन्त ज्ञान भी प्रकट होता है अनन्त दर्शन और अनन्त शक्ति भी प्रकट होती है । यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति अनन्त आनन्द इस चतुष्टयस्वरूपके लाभका नाम मोक्ष है, ऐसा कोई मोक्षका स्वरूप समझले तो उसकी प्रतीक्षा की जा सकती है और उस स्वभावकी उपासनामें यहाँ भी आनन्द पाया जा सकता है । इस आनन्द सवेदनके प्रतापसे

कर्मोंका क्षय करके शीघ्र हो ऐसे अनन्त चतुष्टयस्वरूप हो सकेंगे ।

अपनी ही प्राप्तिगिक चर्चा - इस प्रसंगमें अपने आपकी ही बात कही जा रही है यह आत्मा क्या है ? यह स्वरूप किस रूप है ईसमें क्या प्रभाव है और उसके बारे में बड़े-बड़े दार्शनिक लोग क्या क्या मंतव्य रख रहे हैं, यह बात तो एक बहुत पसंद की होना चाहिये । इसका वर्णन चर्चण एक बहुत हर्षोत्पादनकी बात होना चाहिये तो अपनी बात जिसपर कि हमारा सब कुछ भवितव्य निर्भर है उसकी बात सुननेमें रुचि न लो और ये फल्तू बाहरी बातें धन वैभव नाते निस्ते कुटुम्ब परिजन आदि इनके सुननेमें बहुत रुचि लगे, ये बातें बहुत पसंद आयें तो अखिल बतलावो कि यह किस गतिकी निशानी है ? कुछ विशेष उच्च गुजर जानेके बाद मनुष्य भवके ये सब अनुभव कर चुकनेके बाद भी अब भी चित्तको इस प्रकार न बनाया जाय कि आत्माकी बात सुननेमें रुचि हो धर्मके चारणमें रुचि हो, बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा हो तो अपने आप बतलावो कि इसी रपतारमें कर्हना कर्हना कर्हना होगा क्या ? क्या यह बात भूल गए कि मर्हेंगा, मर्हेंगा, मर्हेंगा ? तो इस ओर दृष्टिपात करनेके दिन हैं अब । वैसे तो मनुष्यभगमें बाल्यावस्थासे ही कल्याणकी साधना करे तो वह विशेष सौभाग्यवान है लेकिन सब खेल देखनेके बाद भी, सबसे धोखा खानेके बाद भी फिर उसी तृणामें चित्त जाय और अपनी बातकी रुचि न जगे तो वह योग्य बात नहीं है । यह मोक्षके स्वरूपकी चर्चा चल रही है । मोक्षके मायने क्या कि बाहरी चीजें छूट जायें और खालिस यह रहे जैसा है । तो खालिस रहता है तो यह क्या रहता है ? इसका कैवल्य स्वरूप क्या है ? उसके सम्बन्धमें यहीं दार्शनिक लोग अपनी बात रख रहे हैं ।

आत्माके नियमुस्खके सम्बन्धमें वैशेषिक द्वारा किये गये दो विकल्प-भास्करीय वेदान्तियोंने मोक्षस्वरूपके सम्बन्धमें तो यह बात रखी कि आत्माका गुण आनन्द है और उस आनन्दगुणकी परम अभिव्यक्तिका नाम है मोक्ष । और, वैशेषिकोंने यह बात रखी कि आत्मामें जो ज्ञानादिक गुण बसे हुए हैं इन गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाय, अलग हो जाय, यह आत्मा गुण रहित हो जाय इसका नाम मोक्ष है । यहीं वैशेषिक वेदान्तियोंसे पूछ रहे हैं कि यदि सुख आत्माका स्वरूप है तो वह नियमुस्ख आत्मासे अभिन्न है या भिन्न है ? प्रथमत आत्माका स्वरूप जो सुख माना जा रहा है वह सुख आत्मासे अभिन्न है प्रथमत सुखमय ही आत्मा है या आत्मा और सुख ये दो भिन्न भिन्न चीजें हैं । फिर यह सुख आत्मामें आ गया । ये दो विकल्प किए ।

नियमुस्खको आत्मासे अभिन्न माननेपर वैशेषिकोंद्वारा आपत्तिदर्शन-वदि कहो कि आत्माका सुख आत्माएं अभिन्न है, अलग कर्हा है, तन्मय ही आत्मा है तो वैशेषिक यह आपत्ति दे रहे हैं कि यदि आत्माका स्वरूप सुख है और वह सुख

अद्यक्षसे अभिन्न है तो जैसे आत्माका नित्यस्वरूप चैतन्य वह आत्मामें सदा रहता है इसी प्रकार आत्मामें सदा ही सुखका सम्बेदन होना चाहिए। यदि सुख आत्मासे अभिन्न गुण है, अभिन्न स्वरूप है तो जैसे आत्मा चैतन्यका निरन्तर अनुभव करता है इसी प्रकार इस नित्यसुखका इस महासुखका भी सदा अनुभव करता रहे आत्मा। और यदि ऐसा मान लिया जायगा तो फिर मुक्तजीवोंमें और जीवोंमें कुछ भी फर्क न रहेगा। जीव तो सब एकसे हैं, मुक्त जीव हों या संसारी। और मान लिया आत्माका स्वरूप सुख और उसे भी माना अभिन्न तो मुक्त भी उस सुखको भोग रहे और संसारी भी उस सुखको भोगें, फिर संसारी जीवोंमें और मुक्त जीवोंमें अन्तर क्या रहेगा ?

स्वप्रकाशानन्दसंबेदनका अविद्या द्वारा आच्छादनका वेदान्तियोंका कथन – वैशेषिक द्वारा उक्त आपत्तिके देनेपर वेदान्ती कह रहे हैं कि भाई अनादि कालीन अविद्यासे ये संसारी जीव आच्छादित हैं इस कारणसे स्वप्रकाशरूप भी आनन्दका सम्बेदन नहीं हो रहा है। स्वरूप तो सुखका है किन्तु उस सुखपर अविद्याका आवरण छाया है। तो जिस चीज़पर आवरण छाया हुआ होत है वह चीज़ प्रकट तो नहीं हो पाती है। जैसे सूर्यपर मेघोंका आवरण जय पड़ जाता है तो सूर्यका प्रकाश प्रकट नहीं हो पाता है इसी प्रकार किसी भी वस्तुपर जब कोई आवरण पड़ा हुआ होता है तो वह चीज़ प्रकट नहीं हो पाती है। जैसे किसी घरमें किसी त्यागीका आहार होना है, कमरा बहुत ही खोटा है, उसी कमरेके अन्दर सारा सामान रखा है और चीका भी लगाया गया है तो शावक लोग उस त्यागीके आते समय उन सारी सामग्रियोंको किसी कपड़ेसे ढक दिया करते हैं। तो जब तक वह कपड़ा हटाया नहीं जाता तब तक वे चीजें प्रकट नहीं हो पाती हैं। कपड़ेको जरासा उघाड़ दिया गया अर्थात् उन वस्तुवोंपर पड़े हुए आवरणको दूर कर दिया गया तो वे सारी बातें जो कि उस आवरणसे ढकी हुई थीं वे प्रकट हो जाती हैं। इसी तरह आत्मामें वह सुख सदा रहता है लेकिन उसपर अविद्याका आवरण छाया है तो सुख स्वभाव होनेपर भी आत्माका सुख प्रकट नहीं हो पा रहा है।

स्वप्रकाशानन्दसंबेदनके अविद्या द्वारा आच्छादनकी अशक्यताका वैशेषिकों द्वारा कथन – अविद्या द्वारा नित्य सुख संबेदनके आच्छादनके कथनपर वैशेषिक जबाब देते हैं कि उस स्वप्रकाशात्मक आनन्दसंबेदनपर अनादि अविद्याका आच्छादन नहीं बन सकता। क्योंकि आवरण उस वस्तुपर हुआ करता है जो अप्रकाश रूप हो। प्रकाशरूप आन दको कौन ढाँक सकेगा ? यदि यह कहो कि सूर्य तो प्रकाश रूप है, उसे तो मेघोंने ढक दिया तो भाई सूर्य और मेघका दृष्टांत तो इससे बिल्कुल भिन्न है सूर्य भी मूर्तिक है और मेघ भी मूर्तिक है तो प्रकाशमय होनेपर आखिर सूर्य

पिण्ड ही तो है उसका आच्छादन मेथोसे बन सकता है मगर वह सम्बेदन सुख दुःख का ज्ञान जो कि स्वयं अमूर्त प्रकाशमय है उसके कहाँ आवरण होता ? जब कभी आप अपना ज्ञान धरमें कई कोठरियोंके भीतर रखी हुई चौजका ध्यान करते होंगे कि अमूर्त गहना, तो आपके ज्ञानपर इतने तो आवरण पड़ गए धरके किवाड़ बन्द हैं, भीतरकी कोठरीके किवाड़ बन्द हैं, तिजोरीमें भी ताला लगा है । उसके भीतर रखे हुए बक्समें भी ताला लगा है, पर उन सबको पार करके आपका ज्ञान भट वहाँ पहुँच जाता है जहाँ आपका वह गहना रखा है, साफ दिखता है । किसीसे भी तो वह ज्ञान नहीं होता । तो जो प्रकाशमय है, ज्ञानरूप है, अमूर्त है उसे कौन रोक सकता है ? तो आनन्द सम्बेदन है, ज्ञान है, आनन्दको रोक सकने वाली अविद्या भी नहीं हो सकती, और फिर अविद्या चीज क्या है । अविद्याको सत्ता कही है न तो इसे कोई बता सकता और न कोई यह बता सकता कि अविद्या अभी तो पड़ी थी और अब मिट गई । कोई चीज ही तब ना । अविद्या तो तुच्छस्वभावरूप है । जहाँ 'अ' लग गया अथात् न' लग गया वह तुच्छ स्वभाव है । विद्याका न होना इसका नाम अविद्या है । विद्या कुछ चीज नहीं है, कोई परिणामने वाली चीज नहीं है अविद्या । किन्तु विद्याके अभावका नाम अविद्या है । अब तुम कहो कि विद्याका आवरण विद्याके अभावने कर रखा तो इसका कुछ अर्थ भी लगता है क्या ? तो अविद्या तो तुच्छ स्वभावरूप है, वह आत्माके प्रकाशमय आनन्दका आवरण करने वाला नहीं हो सकता । तब आनन्द सम्बेदनका आत्माके स्वरूपका आत्माके ज्ञानका सुखका कोई आवरण कर सकने वाला न हो सका और सुखको माना तुमने आत्मासे अभिन्न । तो जैसे मुक्त जीवोंको सुखका सम्बेदन होता है इसी प्रकार संसारी जीवोंको भी सुखका सम्बेदन होना चाहिए । इस कारण यह पक्ष तो तुम्हारा न बन सका कि आत्माका सुख आत्मासे अभिन्न है ।

सुखको आत्मासे भिन्न माननेपर आपत्ति—अभी वैशेषिक ही वेदान्तियों के प्रति कहे जा रहे हैं कि सुखको आत्माका स्वभाव माननेपर यह बताओ कि वह सुख आत्मासे अभिन्न है भिन्न ? अभिन्न माननेकी बात तो बनी नहीं । यदि कहो कि आत्माका सुख आत्मासे भिन्न है तो भला वह नित्य सुख आत्मासे जुदा है, ऐसा किसीने प्रत्यक्षसे देखा क्या ? अथवा अनुमान आदिक किसी प्रमाणसे तिद्व ही सकता है क्या ? नित्य सुख तो अलग पड़ा हुआ है, वह अपनी सत्ता जुदी रख रहा है और आत्मा अलग पड़ा है वह अपनी सत्ता जुदी रख रहा है, फिर आत्माका नित्य सुख क्यों ? क्या यह चौकी खंभा की है ? अरे लंगा खंभा है, चौकी चौकी है । फिर चौकी को लंगाकी कैसे कहते ? हाँ मोही पुरष जरूर कहते हैं कि खंभा हमारा है, चौकी हमारी है । अरे तुम भी एक पदार्थ हो और लंगा चौकी आदिक भी एक पदार्थ हैं । फिर कोई पदार्थ किसी दूसरेका कैसे बन सकता है ?

३३६] परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

ममकारकी भूल ये मोही जीव इस जन वैभवको अपना मानते हैं, पर यह उनकी बड़ी भूल है। यह तो अपने पाथे हुए ज्ञानका दुष्पयोग किया जा रहा है। समस्त पदार्थ स्वयं सत्तावान हैं। पर पदार्थोंमें यह नेरा है इस प्रकारकी जो अपनायत की जाती है यह तो अपने ज्ञानका दुरुरयोग है। जो दिलने वाले ये ज्ञानरहित प्रदर्थ हैं ये सब जैसे न्यारे न्यारे पड़े हुए हैं, ये कुछ भी भेरा तेरा नहीं कर पाते। इसी तरह भेरा तेरा इस आत्माको भी न करना चाहिए, किन्तु जैसे ये सदभूत पुण्यगति इसी तरह सदभूत यह आत्मा है, तो ज्ञान पाया है तो उस ज्ञानसे पदार्थोंका सही स्वरूप जानना और यथार्थ जानकर अग्ना हित कर लेना बस यही कर्तव्य है, और जितना जलदी बने सो करलो। जैसे यहां लूटमार चल रही हो और किसीको कोई चीज हाथे लगते देखे तो उस चीजको लेनेके लिए लोग़ीकितनो जलदी करते हैं इस चीजको भट्टले लो, इस चीजको भट्ट ले लो, यों उत्तायत मवाते हैं। इसी तरह लूटमारका सचार है जन्म मरण संयोग विशेष ज्ञान वाला मनुष्य भव मिला है तो इसका उपयोग भट्ट करलो। इसकी उल्लायत करना चाहिये। यदि यही प्रमाद रखा तो इस लूटमारमें यह मनुष्य भव भी लुट जायगा, हाथ कुछ न रहेगा।

दार्शनिकोंके तत्त्वनिर्णयप्रयासकी प्रशंस्यता - आत्माका किसमें हित है? वया घमं है और किस प्रकार है? उसके सम्बन्धमें जो अनेक दार्शनिकोंने अनेक प्रकारकी धारणायें की हैं कुछ तो उनकी बुद्धिकी प्रशंसा करनी चाहिए। उन्होंने दिमाग लगाकर बड़ी ईमानदारीसे ही कुछ निखलना चाहा, यह बात और है कि वे समझमें कितना बढ़ सके, नहीं बढ़ सके, मगर सभी दार्शनिकोंकी प्रशंसा की जानी चाहिए। उन सबने अपनी आपनी बुद्धिके अनुपार ईमानदारी रखकर आनन्द, मोक्ष, निराकुलता अथवा शान्ति चाही। इन सब बातोंका ध्यान रखकर उन्होंने सौज की है और वस्तुके स्वरूपको जानना चाहा है पर कोई सफल हुए था नहीं। यह बात एक निर्णय की है। जैसे विशेषिकोंने यह माना कि सारे गुण निकल जायें तो आत्माका मोक्ष होता है। तो मोटी हृषिके यह तो समझमें आ रहा है ना, कि हममें यह ज्ञान लगा हुआ है इससे सारे दुःख ही रहे हैं। इन खंभा चोकी आदिमें ज्ञान नहीं है तो इनको कोई दुःख नहीं होता है। तो उन्होंने निष्कर्ष यह निकाला कि जब आत्मा ज्ञानरहित हो जायगा तो फिर इसे दुःख कैसे होगा? भले ही यह न पहिचाना कि ज्ञानका स्वरूपमात्र ज्ञान है, जहां विकल्प ही नहीं उठते। जिन विकल्पोंसे आशान्ति पायी जा रही है और जिन विकल्पोंरूप ही ज्ञानका स्वरूप मानकर उस ज्ञानको दूर करके मोक्षका स्वरूप बनाया जा रहा है वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है। ज्ञानका स्वरूप प्रतिभासमात्र है। उसको हटानेकी जहरत न थी। वेदान्ती जनोंने आत्माका आनन्द स्वरूप माना है। कोई विगड़की बात तो नहीं है। यह ज्ञानानन्दरूप है ही और जो आनन्दस्वरूप है जो भी स्वरूप होता है वह वस्तुमें सदा रहता है। तो इस आनन्द

स्वरुपको नित्य मानना इसमें भी कोई बिगड़ नहीं है, पर ऐसा नित्य मान लेना, ऐसी उनको भक्ति बढ़ा लेना कि उसे परिणामी नित्य मान लिया जाय वस यहाँ गाड़ी रुक जाती है। परिणामी नित्य माननेपर तो सर्वसङ्गत है। यहाँ वंशेषिकों ने आत्मसुखके बारेमें नित्य अनित्यका विकल्प रखकर निराकरण किया है कि आत्मा का स्वरूप सुख नहीं है और इस कारण परम आनन्दकी अभिव्यक्तिको नाम मोक्ष है नहीं, किन्तु आत्माके सुख दुख ज्ञानादिक समस्त गुणोंके उच्छ्रेद होनेका नाम मोक्ष है।

मोक्षके आनन्दरूपताकी उपादेयता—यहाँ तक वेदांत और विशेषवाद इन दोनोंके परस्पर प्रह्लोदतर होते रहे अब इन दोनोंमें यत्थार्थतापर कैसे पहुँचे और इन दोनोंसे सम्बन्धित हम क्या स्वरूप मानें इस विषयमें कुछ कहा जा रहा है। मोक्षके स्वरूपमें ये मुख्य दो विवाद उठे हैं—एकका कथन है कि मोक्ष आनन्दस्वरूप है, और एक कहता है कि आत्माका मोक्ष गुणरहित नहा है। सभी गुण अलग हट जायें उसका नाम मोक्ष है। इन दोनोंके बीच कुछ भी विचार करनेपर थोड़ा भी विचार करने वाला व्यक्ति इधर बातको पसन्द करेगा कि मोक्ष आनन्दस्वरूप है और यहाँ सीधी सी बात है कि यदि आनन्द ही नहीं है तो ऐसे मोक्षके लिए यत्न ही कौन करेगा? तो मोक्षकी आनन्दस्वरूपा तो अभीष्ट है, सही बात है, यह आनन्दस्वरूपा अपरिणामी नित्य है, उसमें कुछ परिणामन नहीं दोता, वह यह बात प्रतिषेधके योग्य है।

चैतन्यस्वरूप और आनन्दस्वरूपकी नित्यानित्यात्मकता—यहाँ नित्य-वादी प्रश्न कर रहा है कि जैसे आत्माका चैतन्यस्वरूप नित्य है ना, तो इसीप्रकार आनन्दस्वरूपका भी एकांत नित्य मानलो तो क्या आपत्ति है? स्याद्वादी उत्तर देता है कि कौन कहता है कि आत्माको चिन्हूरता भी एकांत नित्य है? जैसे आनन्दस्वरूपा एकांत नित्य नहीं इसी प्रकार चैतन्यस्वरूपा भी एकांत नित्य नहीं इसी प्रकार जितनी भी वस्तुएं हैं, जितनी भी वस्तुयें हैं, जितने भी वस्तुओंके स्वभाव हैं वे सब परिणामी नित्य हुआ करते हैं। उत्तर वह होकर भी नित्य है, परिणामन करते हैं। और, इसको थोड़े शब्दोंमें समझना है तो एक सुन्दर समझ सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है—तद्भावाव्ययनित्य। इसमें ३ शब्द हैं—तत्, भाव और अव्यय। भावका अर्थ है होना, तत् मायने उसका। उसके होते रहनेका नाश न हो सके। उसका नाम मोक्ष है, अर्थात् पदार्थ सदा होता रहे, परिणामता रहे, नहीं-नहीं अवस्थाएँ पाता रहे, उन अवस्थाओंके पाते रहनेका विनाश न हो। इसका नाम नित्य है। नित्यका यह अर्थ नहीं कि अपरिणामी है, ही सो है, उसमें कुछ बर्तना नहीं, कुछ परिणामन नहीं। तो क्या सिद्ध हुआ कि आत्मामें नित्यस्वरूप है और उसकी अभिव्यक्तिनाम मोक्ष है, पर वह आनन्दस्वरूप नित्यानित्यात्मक है।

आनन्दस्वरूपकी अभिव्यक्तिका कारण—यहाँ शङ्खाकार पूछता है कि

यदि आनन्दस्वरूप अनित्य है तो आनन्दशरणाका परिज्ञान होनेका सम्बेदन होनेका अनुभव होनेका कारण बतलाओ कि उसकी अभिव्यक्ति, उसका सम्बेदन किस कारण से उत्पन्न होता है औ क्योंकि जो भी चीज अनित्य होती है उसकी उत्पत्तिका कोई कारण है। अब आपने मान लिया आत्माका सुख नित्य है तो उस सुखका जो अनुभव होता है उसकी उत्पत्तिका क्या कारण है? समाधानमें कहते हैं कि उस सुखका प्रतिबन्धक जो आवरण है, क्यं है, अथवा बाह्य संसर्ग है, उम्म सबका विनाश हो जाना सुखकी अभिव्यक्तिका कारण है, सुखके सम्बेदनका कारण है। संसार अवस्थामें यह ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा प्रतिबन्धसे सहित है, इसवर आवरण आये हैं, ज्ञानावरण आदिक अष्ट कर्मोंका आवरण है, और अन्तः आवरण विषय कर्मायोंके परिणामका है। मोक्ष अवस्थामें प्रतिबन्धक नहीं रहता, समस्त प्रतिबन्धक कर्मोंका क्षय हो जाता है तब वहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है तो अतीन्द्रिय ज्ञान अतीन्द्रिय सुखके उत्पन्न होनेका कारण है आवरणका विनाश।

चिदानन्दस्वरूपकी विशुद्ध व्यञ्जनाका विवरण—जैसे घरमें दीपक जल रहा है और उसपर कोई घट आदिकका आवरण कर दिया जाय अथवा जैसे लालटेन जल रही है और उसपर एक खुला कनस्तर आंधा रख दिया जाय तो उस लालटेनका प्रकाश होने लगा और अब एक बार आवरण हटनेके बाद अब प्रकाश ही प्रकाश लगातार चल रहे हैं। अब वहाँ कोई आवरण हटानेकी जरूरत नहीं है। आवरण रहा ही नहीं है, उन प्रकाशोंमें उत्तर अप्रकाश उत्पन्न करनेका स्वभाव पड़ा है। यहाँ यह स्थूलरूपसे बात कही जा रही है कि जैसे मानो लालटेनके ऊपर खुला हुआ आंधा कनस्तर रख देनेसे कनस्तरका आवरण होनेसे प्रकाश बिल्कुल बन्द है और आवरण हटा दिया, कनस्तर दूर कर दिया तो अब प्रकाश ही प्रकाश हो गया ना कमरेमें? हो गया। अब इसके बाद जो कमरेमें लगातार प्रकाश ही प्रकाश जल रहा है तो इस सारे प्रकाशके चलनेके के लिए अब आवरण हटानेकी जरूरत नहीं है। यह तो नहीं है कि प्रति सेकेण्ड कनस्तर हटाया जाय तब प्रकाश होगा? पहिला जो प्रकाश है वह आवरणके दूर होनेपर हुआ है, अब तो उस प्रकाशमें स्वभाव ही ऐसा पड़ा है कि वह अपनेमें उत्तरोत्तर प्रकाशको उत्पन्न करता रहे। इसी तरह केवल ज्ञानके उत्पन्न होनेमें प्रथम आवरण केहटाने की आवश्यकता है जिसे कहते हैं क्षायिक भाव। कर्मोंके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है तो केवलज्ञान क्षायिक है। तो क्षायक तो है मगर पहिले समयमें जो केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह है क्षायिक। वह कर्मोंके क्षयसे दूर होता है। अब इसकी जरूरत नहीं है कि प्रतिसमय कर्मोंका क्षय हो तो केवलज्ञान बने। फिर तो केवलज्ञानमें स्वभाव ही ऐसा पड़ा है कि वह ज्ञान पूर्वज्ञान संपादन बनकर उत्तर वैसे ही ज्ञानको उत्पन्न करता रहे। जब कुछ आवरण लगा नहीं तो आवरण हटानेकी जरूरत क्या है? जो जिसको उत्पन्न करनेका स्वभाव रखता है वह उसको उत्पन्न करनेमें अन्यकी प्रपेक्षा नहीं रखता। जैसे एक बीजसे

अंकुर उत्पन्न होता है। कब ? सारे कारण कूट मिल चुक्नेपर। खाद पड़ी, खेत जीता, समयपर बीज डाल दिया, और कुछ सर्दी गर्मी लगतेपर उम बीजमें कुछ अन्य ही विशेषता आयी, समझ लीजिये कि अन्तिम कारण सामग्री सब कारण पूर्ण जुड़नेपर जो अन्तिम स्थिति है वह अंकुरको उत्पन्न करनेमें समर्थ है अब उसे कौन रोडेगा ? इसी प्रकार जो भी पदार्थ जिस स्थितिमें पूर्ण समर्थ है, उत्पन्न करनेमें वह दूसरेको अपेक्षा नहीं रखता। आवरणके क्षय होनेपर उत्पन्न हुए केवल ज्ञानमें अब उत्तरोत्तर उन ज्ञान ध्यानोंको उत्पन्न करनेका स्वभाव है अब इस आवरणरहित आत्मामें, स्व कारणसे निरन्तर अतीनिदियज्ञान और अतीनिदिय सुखका अनुभवन चल रहा है।

सहजानन्दानुभवकी सेन्द्रियशारीर व्यापाराजन्यताकी सभावनापर प्रकाश -भैया ! यहां संसार अवस्थामें भी देखो - ऐसे साधुरुख जिनको बसूला और चन्दन दोनोंमें सम भाव है। कोई हथियारके उनके शरीरका अङ्ग छील रहा हो या कोई दूसरा उनके ही शरीरपर चढ़नका लें कर रहा हो अर्थात् एक व्यक्ति तो हुँखा साधन कर रहा है और एक व्यक्ति आरामका साधन कर रहा है लेकिन वे साधु पुरुष उन दोनों ही प्रकारके पुरुषोंके प्रति समताका व्यवहार करते हैं। ऐसे सर्व पदार्थोंमें समान वृत्ति रखने वाले साधुओंको जब वे विशिष्ट ध्यानमें आते हैं, उस समय उनको परम अङ्ग दहा अनुभव होता है उत्कृष्ट आनन्दका अनुभव होता है। वह अनुभव न इन्द्रियजन्य है, न शरीरकी चेष्टासे उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और शरीर दोनोंकी चेष्टासे न होकर अपनेसे जब अन्य विशिष्ट आनन्द होता है उससे जब उनकी भावना अधिकाधिक बढ़ जाती है तो उत्तरोत्तर अवस्था, उत्कृष्टतासे वह ज्ञान और आनन्द प्राप्त होता जाता है और इस ही भावनके अभ्यासके बलसे उस ज्ञान और आनन्दकी अन्तिम काठा प्राप्त हो जाती है अर्थात् ये साधुजन आत्माका ध्यान करके जिस विशुद्ध अतीनिदिय ज्ञान और आनन्दका अनुभव किया करते हैं उस हीका अनुभव, उस हीका अभ्यास, उस हीकी भावना जब बहुत बहुत बढ़ जाती है तो अत में उस ज्ञान और आनन्दकी हृद भी पूर्ण प्राप्त हो जाती है। वह उस अनन्तज्ञान, उन अनन्त आनन्दका जहां विकास है उस हीका नाम मोक्ष है। म्रतः यह बात युक्त है कि मोक्ष आनन्द स्वरूप है और अतीनिदिय आनन्दके अनुभवन वृण है।

अविद्या और उसके निमित्तसे ज्ञानानन्दस्वरूपका आच्छादन वेदान्त सिद्धान्तने यह कहा था कि आत्माका स्वरूप आनन्द है प्रत्येक आत्ममें आनन्दस्वरूप निरन्तर नित्य रहता है पर उसकी अभिव्यक्ति मोक्षमें होती है। संसारकी अवस्थामें नहीं होती है। इसका कारण यह है कि संसारी जीवोंमें अनादि अविद्या ज्ञायी होती है। जब इस अविद्याका विनाश होता है तो अविद्या नष्ट होनेपर फिर ब्रह्मके आनन्दस्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है उस पर वैशेषिकोंने यह इतराज किया था कि ब्रह्म

स्वरूप तो प्रकाशमय है स्वप्रकाशमय आनन्द सम्बेदनका तिरोभाव अनादि अविद्याके द्वारा नहीं हो सकता और फिर अविद्याका कुछ वास्तविक स्वरूप ही नहीं है । वह तो अभाव ही है । विद्या न हो सो अविद्या हसपर स्याद्वादी कहता है कि यह बात युक्त है कि अनादि कालसे अविद्या लगी चली आ रही है उस अविद्या उपाधिके कारण ब्रह्म स्वरूपके आनन्द तत्त्वकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, लेकिन वह अविद्या क्या है हसका सही निर्णय रखना चाहिये । अविद्या नाम है अज्ञानका । जहाँ ज्ञान न पाया जाय उसे अविद्या कहते हैं । तो ऐसा कौन सा अज्ञान जीवके ज्ञानानन्दस्वरूपको रोकनेमें निमित्त होता है ? वह अज्ञान है द प्रकारका कर्म प्रवाह जो पौदगलिक कार्मण्यवर्गणाओंका कर्मस्वरूप परिणाम हुआ है ऐसा द प्रकारका कर्म प्रवाह जो है उसे अनादि अविद्या कहते हैं । जिसके उदयके निमित्तसे जीवके ज्ञानानन्दस्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती । यद्यपि अन्तरङ्ग दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता कि विषय कथायके विकल्प अविद्या हैं और यह अविद्या ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको ज्ञानस्वरूपको प्रकट नहीं होने देती लेकिन वह अविद्या निमित्तस्वरूप नहीं है, वह तो विरोधी परिणाम है अर्थात् ज्ञानानन्दके प्रकाशमें और विषय कथायोंके विकल्पमें परस्पर विरोधस्वरूप नाता है, निमित्तस्वरूप नहीं है निमित्त दृष्टिसे तो द प्रकारका पारमार्थिक कर्मोंका जो प्रवाहस्वरूप है वही अनादि अविद्या है । जब उसका विलय होता है तो अनन्त सुख, अनन्तज्ञान, आदिककी प्राप्ति होती है । यों अनन्त चतुष्टयस्वरूपके लाभका नाम मोक्ष है, यह बात युक्त होती है । मोक्ष स्वरूपके सम्बन्धमें अब तक मुख्यतया गुणोच्छेद स्वरूप मोक्ष और आनन्दाभिव्यक्तिस्वरूप मोक्षके सम्बन्धमें भीमांसा की गई है ।

५